अरविन्द मन्दिरमें

लेखक—महात्मा अरविन्द घोष

अरविन्द-मन्दिरमें

प्रकाशक—

हिन्दी पुस्तकालय,

मिर्जापुर

माघ १९८० विक्रमी

प्रथमबार २०००]

[मूल्य बारह आना

प्रकाशक—
सूर्यबली सिंह,
हिन्दी पुस्तकालय
मिर्जापुर ।

आवश्यक सूचना

यदि आप सुभीतेसे पुस्तकें मँगाना चाहें, तो हमारे यहां १) जमा देकर आजन्मके लिये स्थायी-ग्राहक बनकर सब जगहकी हिन्दी पुस्तकें सस्ते दाममें मँगाया करें ।

मैनेजर, हिन्दी पुस्तकालय
मिर्जापुर ।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
बनारस सिटी । ११००–२४

दो बातें

अभी हालहीमें श्रीयुक्त मोतीलालजीने महात्मा अरविन्द-से कुछ आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बातें की थीं। जो कुछ योगिराजसे उत्तर मिले, उन्हें पुस्तक रूपमें मोतीबाबूने प्रकाशित कर दिया। प्रस्तुत पुस्तक उसीका अनुवाद है।

इस पुस्तकका विषय बड़ा गम्भीर है। कहीं कहीं-पर अंग्रेज़ी शब्दोंका भाव लानेमें बड़ी कठिनाई पड़ी है। यही कारण है कि इस पुस्तकमें हिन्दीके साथही कोष्ट में अंग्रेजीके शब्द भी रख दिये गये हैं; स्थलपर टिप्पणियां भी दे दी गयी हैं, उनसे भी भावोंके समझनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

इस पुस्तकमें योगिराजने हर तरहके साधकोंके लिये साधनकी विधि बतलायी है, भारतके साथ ही समूचे संसार का भविष्य बतलाया है, अपनी अवस्थाका दिग्दर्शन कराया है, यौगिक बलसे ईश्वरीय प्रेरणाका अनुभव करके देशके कल्याण-के लिये योगियोंकी आवश्यकता दिखलायी है, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंकी त्रुटियां दिखलायी हैं और अन्तमें सुनाया है भारतके प्रति ईश्वरका संदेश।

यह तो हुआ पुस्तक का संक्षिप्त परिचय। अब अन्तमें हमें एक बात और कहनी है; और वह यह कि, पहले फार्म में Supramental और Supermental इन दो शब्दोंका अर्थ अशुद्ध छप गया है, उसे पाठकगण परिशिष्टमें देखें। पुस्तकके अन्तमें हमें परिशिष्ट इसी कारण लिखना पड़ा है। उससे पुस्तकके समझनेमें बहुत कुछ सरलता मिलेगी। Supermental (सुपर मेण्टलको) विज्ञान समझना चाहिये।

तारीख ३-२-२४.
साहित्याश्रम,
पो० कछवा (मिर्जापूर)

विनीत—

देवनारायण द्विवेदी

अरविन्द मन्दिरमें



महात्मा—अरविन्द घोष

खन्ना प्रेस, कलकत्ता ।

❀ श्रीः ❀

अरविन्द मन्दिरमें

श्रीचरण कमलेषु—

*　　*　　*　　*

आज हम योगिराजसे की हुई बातें उद्धृत कर रहे हैं। विषय बड़ा ही मनोहर और शिक्षाप्रद है। सबलोगोंके चले जानेके बाद अकेला पाकर हमने योगिराजसे पूँछा कि, "आप कहते हैं कि बँगला सङ्घमें कर्म और भक्तिका पूर्ण विकाश हो रहा है किन्तु ज्ञानका अभाव है; सो कृपाकर इसे स्पष्ट कर दीजिये।"

योगिराजने कहा—ज्ञानाभावके माने है, एक विशाल और व्यापक universal consciousness (विश्व-सम्बन्धी ज्ञान) में आत्मस्थापनाका न होना। संघमें चाहे वह स्वतन्त्र न हो, किन्तु प्रचुर भावमें ही free (स्वतन्त्र) शक्तिकी लीलासे बिलकुल खिंचे हुए (intense) भावका प्रकाश अवश्य है। उसी शक्ति और भावके प्रवाहसे ही उसका आगे बढ़ना भी हो रहा है। वह एक स्वतन्त्र और कोमल ज्ञानकी लीला

मात्र है। मस्तिष्ककी असली शक्ति होनेसे विज्ञानका प्रकाश पूर्ण और सुन्दर अपने आपही हो जाता है।

मैंने कहा यह मैं मानता हूँ कि ज्ञानकी इस असली शक्ति (native power) का अभाव है, किन्तु यह शक्ति तो ग्रन्थावलोकनसे प्राप्त नहीं हो सकती, इसका संचार आपहीको.करना पड़ेगा। हम संकल्प और बातचीत सम्बन्धी ज्ञान बिलकुल सुदृढ़ कर चुके हैं।

अरविन्द—संघमें··············छोड़कर यह वस्तु अभीतक किसीमें भी पूर्ण रीतिसे परिस्फुटित नहीं हुई है। ब्रह्मज्ञानमें अधिकांश देवत्व ही तुम लोगोंमें सम्भावित रहा है, किन्तु शक्तिमें—ज्ञानमें वह सब ज्ञानमय बनावट हो जायगा।······में (मस्तकपर दिखलाकर) इसी जगह वह साँचा मौजूद है, इस बार वह शरीरी होकर बनानेकी चेष्टा कर रहा है।

मैं—सारा भार तो आपहीपर है।

अर०—क्रमशः होगा—

इसके बाद वार्त्तालाप समाप्त करना पड़ा, क्योंकि संध्या हो गयी थी। मैं वहाँसे वापस आकर उनकी सारी बातोंपर विचार करने लगा और अन्तमें मैंने उन्हें स्वीकार भी कर लीं। इसीकी आवश्यकता भी थी। अब देख रहा हूँ कि संघकी स्थापना बहुत विशाल हो गयी है। भावमें, इस भावकी दृष्टिमें एवं शक्तिमें हमें एक ऐसी सम्भावित तेजोमूर्त्ति प्राप्त हुई है, जिसपर गम्भीरता-पूर्वक दृष्टि डालनेसे पता

चलता है कि अबकी बार आत्मदर्शन करनेका हमारा समय बिलकुल ही निकट आगया है।

* * *

शिक्षाके सम्बन्धमें कहा था कि पुस्तकोंके समूह-(mass of books) के नीचे बच्चोंको नहीं दबाना चाहिये। पहले उन्हें पुस्तकोंसे बिलकुल अलग रखना ही ठीक है। केवल अनेक तरहके लाभदायक विषयोंका गम्भीरता-पूर्वक यथासम्भव ज्ञान कराना ही बच्चोंके लिये लाभदायक और हितकर है। इससे मौलिक योग्यताकी स्वतंत्र उपज (free growth of original faculties) होती है। पश्चात् जब प्रत्यक्ष परिचालनके फलसे मनोवृत्तियोंमें शक्ति आजाय, तब जिस लड़केका जिस विषयसे प्रेम हो, उसको उसी विषयकी पुस्तक पढ़नेके लिये देनी चाहिये। आजकल सरकारी मदरसोंमें भारतीय प्रजाकी योग्यता एक विशेष प्रकारके ऐसे साँचेमें ढारी जारही है जिस शिक्षा-(education) से कुछ लाभ नहीं। स्मरण रखना चाहिये कि जिससे भगवान जो कुछ चाहते हैं उसके भीतर उसीका विकाश सरलतासे होता है। * आधुनिक सर-

---

* प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि भिन्न भिन्न तरहकी होती है। इस रुचिकी उत्पत्ति पूर्व संस्कारसे हुई ही समझनी चाहिये। आजकल शिक्षालयोंमें छात्रोंकी रुचिके अनुसार शिक्षा नहीं दी जारही है। देखनेमें आया है कि कितने ही लड़कोंकी विज्ञानमें इतनी निपुण बुद्धि है कि यदि उन्हें विज्ञानकी शिक्षा उचित रीतिसे दी जाय तो निश्चय ही वे संसारमें प्रसिद्ध व्यक्ति हों,

कारी शिक्षा-विधानमें moral education (उचित शिक्षा) का मूल (text) बिलकुल ही नहीं है। इस समय सच्चा अनुराग, प्रेम, बड़प्पन (nobleness) और पुष्टता आदि हृदयकी वृत्तियोंको स्वाभाविकता पूर्वक जगानेकी आवश्यकता है और उसका होना तभी सम्भव है, जब उसके उड़नेके लिये जीवनका वायुमंडल (atmosphere) तैयार किया जायगा।

अबकी बार उन्होंने साधना मनके अन्तिम प्रदेश एवं साधन अवस्थाके सम्बन्धमें कहा। आखिरी तहमें ही मस्तिष्ककी महानता है। उसी जगह अध्यात्म-राज्यमें देवरूप गठन किया जाता है—जिस प्रकार वैदिक ऋषि अपने चित्लोकमें देवताओं-

---

किन्तु उन्हें उनकी रुचिके अनुसार विज्ञानकी शिक्षा न देकर और ही शिक्षा दी जारही है जिसमें उनका बिलकुलही दिल नहीं लगता। इसमें भारी भूल मा-बापकी है। भारतमें इस समय अधिकांश बच्चोंके अभिभावक ऐसे हैं, जो बच्चेके पैदा होते ही उसकी रुचि जाने बिना पढ़ानेका विषय निश्चित कर लेते हैं। फल यह होता है कि वह लड़का कुछ भी नहीं सीख पाता। जिस प्रकार पानीका बहाव ढालू जमीनकी ओर ही सरलतासे होता है, उसी प्रकार रुचिके अनुसारही शिक्षा देनेपर बच्चे सरलतासे ग्रहण करते हैं। इसलिये सबसे पहले बच्चोंकी रुचि जानकर उस रुचिके अनुकूल शिक्षा देनेकी आवश्यकता है। स्वभावविरुद्ध कार्य करनेमें सफलता नहीं होती।

को उत्पन्न करते थे। यही हमारा गम्भीर कार्य है और इसीका नाम चेतनामें देव-सृष्टिका करना है। साधारणतः हम जिस अवस्थामें हैं, यही mind of ignorance अर्थात् अनभिज्ञताका मस्तिष्क या मस्तिष्ककी अनभिज्ञता है। यह अनभिज्ञता हमारे मन और प्राणरूपी क्षेत्रमें स्वतंत्रता पूर्वक विचरण कर रही है। इसके सम्बन्धमें हम कुछ भी नहीं जानते। यद्यपि जाननेकी चेष्टा बहुत दिनोंसे करते आरहे हैं, किन्तु वह चेष्टा बिलकुलही क्षीण है। मनभी स्वयं बड़े ही भुलक्कड़ स्वभावका है। उसमें ज्ञान और सत्य ऐसा अलक्षित है कि, अल्प प्रकाशके सहारे ही ढूँढ़नेसे खोये हुए रत्नकी भांति प्राप्त हो सकता है—अन्यथा मिल ही नहीं सकता। मामूली वस्तुएँ बाहरी आघातसे अथवा भीतरी प्रकाशसे रग रगमें प्रस्फुटित हो जाती हैं, जोकि स्मरण रखनेपर ज्ञात हो सकती हैं। Plato (प्लेटो) का जो सिद्धान्त था—All knowledge is but a remembrance of forgotten things—(अर्थात् ज्ञान कोई दूसरी वस्तु नहीं, भूली हुई वस्तुका स्मरण हो जाना ही ज्ञान है) साधकोंका पहला परिचय इसी मनके साथ होता है। विवेकानन्दका highly developed intutive mind था, उन्होंने मनके इस ऊँचे पर्देको भी दृढ़तापूर्वक फाड़ दिया था। Mind of knowledge अर्थात् ज्ञानका मन इससे ऊपरकी तहमें है; बस यही ज्ञानका निवासस्थान और प्रज्वलित सत्यका राज्य है। इसके ऊपर जानेसे फिर और बात नहीं

कही जा सकती; कहनेकी पूर्ण इच्छा होनेपर भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि फिर उन बातोंको प्रकट करनेकी शक्ति वाणीमें रही नहीं जाती।

मैं जैसा इशारेसे सुनता गया वैसा लिखता गया। थोड़ी देरतक चुप रहनेके बाद उन्होंने फिर कहा कि, भीतरका द्वार खोलनेमें एक विशेष निपुणता है। वह द्वार बिना प्रत्यक्ष ज्ञानके नहीं खोला जा सकता। उसके खुलनेकी किल्ली ही बहुत ऊपर है। उसके लिये भविष्य-द्योतक सहायक क्रिया पूर्ण अभिलाषा-से लगन लगाकर करनी चाहिये।

* * *

तत्पश्चात् psychic experience अर्थात् आत्मज्ञानके सम्बन्धमें मानसिक अनुभवकी बात छिड़ी। मैंने कहा कि, इतना करनेकी क्या आवश्यकता है, एक मानसिकतासे ही तो काम चल सकता है। इन सबमें क्या बड़प्पन है, जाननेकी इच्छा है।

उन्होंने कहा, इतना करनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। जेलमें रहकर मैं अच्छी तरह इस विषयका अनुभव करता था। पहले पहल तरह तरहकी भूल भ्रान्ति और delusion या धोखेमें फँस जाना पड़ता था; मालूम ही नहीं होता था कि, कौन भूल है और कौन सत्य। बहुत देरतक भूलके ऊपर ही हम बहुत बड़ी इमारत तैयार किया करते थे, अन्तमें एक ही धक्केमें वह इमारत गिरकर नष्ट हो जाया करती थी;

परिश्रमकी उस विफलता पर भगवान्‌के ऊपर झुँझलाहट भी दिलमें पैदा हो जाया करती थी यहाँतक कि उन्हें बहुत कुछ बक भी देते थे। किन्तु यही कुशल थी कि उससे रक्षा भी हो जाया करती थी; एक सन्देह करनेवाला (sceptic) भीतर था; वही गुण-दोष निर्णय करनेके लिये (critical mind) बाहरी प्रमाण खोजता था। इस आध्यात्मिक क्षेत्रको (psychical field) पहले साधनकालमें ही मैंने एकदम दबा रक्खा था। इसके कारण इस समय एक तरहसे बहुत बड़ी असुविधाका सामना करना पड़ रहा है; हमारा विचार (सिद्धान्त) अब बिलकुल ठीक हो गया है। उसी सिद्धान्त क्षेत्रमें अब मन खुलासे विचरण भी कर रहा है; किन्तु उसे जिस समयमें जीवनकी ओर झुकाना चाहते हैं, उस समय बड़ी ही कठिनाईका सामना करना पड़ता है। उस समय आध्यात्मिकताकी वस्तुओंको फिरसे एक दूसरी शक्तिसे खींचकर लानेका प्रयोजन होता है। दबाव (suppression) मात्र ही बुरा है। एक कमीका रहना ही हमारे जीवनकी सारी विचित्रताओंके आलिंगन करनेका आदर्श*

---

* सात्विक, राजस और तामस इन तीनोंके मेलसे ही सृष्टिकी रचना हुई है। इनमें किसीकी कमी और किसीकी अधिकता तो हो सकती है, किन्तु किसीकी भी जड़ मिटा देनेसे—पहले तो यह सम्भव ही नहीं है, किन्तु योगियोंके ज़िये सम्भव भी है—रचनात्मक कार्यरूपी शरीर टिक

है। जीवन, शारीरिक (physical) एवं आध्यात्मिक (psychical) दोनोंका समकालीन है। शारीरिक मात्रको लेनेसे ही काम नहीं चल सकता; उसके निर्वाहार्थ आध्यात्मिकको भी लेना पड़ेगा। क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र (Psychical field) अनुभवका बड़ा ही विस्तृत और सर्वगुण सम्पन्न क्षेत्र (rich field of experience) है।

नहीं सकता। इसलिये राजस और तामस दोषपूर्ण होते हुए भी शरीर रखनेके लिये आवश्यक होता है। ऐसी अवस्थामें इन्हें जीवनका आदर्श ही कहना पड़ेगा।

२

सारी वस्तुओंमें जो सत्य है, उसकी ओर अन्तमें बाह्य शरीर पर्यन्तकी सिद्धि हमें चाहिये। Supermind अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण पहले ब्रह्माण्डपर ठहरानेसे वहाँ नवीन ज्ञान, चिन्ता और इन्द्रियाँ पर्यन्त स्पष्ट हो जाती हैं, किन्तु ब्रह्माण्ड में ही उसे स्थित रहने देनेसे हम वहाँ जितनी देर रहेंगे, उतनी ही देर सब कुछ रहेगा, पीछे नहीं। इसीसे हमारे पूर्वज समाधिके ऊपर इतना अवलम्बित रहते थे। वे समझते थे कि supermental energy को पहले आध्यात्मिक समधरातलपर झुकाना चाहिये, उस जगहसे नये यन्त्र और सूक्ष्म इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। वास्तवमें यह नवीन सृष्टि है—अन्तरंगेन्द्रियाँ बाह्येन्द्रियोंकी सहायता बिना ही दर्शन, स्पर्शन करने लगती हैं।

विजय (conquest) पूर्ण और वास्तविक (substantial) नहीं होगी जबतक कि शरीर तकका रूपान्तर नहीं हो जायगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शरीरकी मूर्त्तिका परिवर्तन हो जायगा, बल्कि यह अर्थ है कि सब कार्य बदल जायगा। उस समय शरीर अमृतमय हो जायगा और उसमें रोग इत्यादि भी बिलकुल ही नहीं रहेगा। नेत्र जिस

रूपको प्रत्यक्ष करता है, वह रूप सम्भवतः फिर वह प्रत्यक्ष नहीं कर सकेगा अर्थात् दृश्य जगत्में आँखें भूली न रहेंगी। उस समय एक अखण्डके असंख्य ढंग, रूप, गुण और उसकी शक्ति तथा स्वभावके नाटक (play of forces and qualities) आँखोंमें उदित होंगे। कानोंमें जो वाक्य सुनायी पड़ेगा, उसके प्रत्येक शब्दमें एक पूरेका पूर्णत्व रहेगा। सब इन्द्रियाँ प्रत्यक्षके भीतर भी इस तरहके एक आधिक्य या साकल्य, (intensity) अन्तरत्त्व (innerness) और पूर्णत्व या totality का अनुभव करेंगी। यह साकल्य, अन्तरङ्गत्त्व और पूर्णत्त्व मानवेन्द्रियोंका गोचरीभूत हो सकता और होता है, इसके विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

*   *   *   *

वैदिक युगमें ऋषि लोग देवगठन करते थे और उसीका नाम चिन्मय सृष्टि था। उपनिषद् कालमें भी ज्ञानी लोग जानते थे कि समस्त चैतन्य और ज्ञान भीतर रहता है; वे भीतरी चैतन्य और ज्ञानको एकाग्र चित्त होकर (concentration) प्रकाशित भी करते थे और परस्परमें उपलब्ध सत्य मिला लेते थे; Scientific apparatus अर्थात् वैज्ञानिक शास्त्र उन लोगोंके पास नहीं था। ज्वालाका पुत्र सत्यकामकी गौएँ चराता था। चरवाही करते करते ही प्रकृतिकी गोदमें उसका हृदय-पटल खुल गया और उसके समूचे विचार निर्मल हो गये। पशु-पक्षी, वृक्ष-लता पर्यन्तसे उसे ज्ञानकी शिक्षा मिलने

लगी और सब दिशाओंसे वह मधुर शब्द सुनने लगा। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं, यह सनातन ज्ञानका मार्ग है, और यही ज्ञानकी मुक्त प्रणाली है। और आजकलकी वैज्ञानिक (scientific) धारणा क्या है ? यह कि चेतनके साथ प्रयोजन (object) का साक्षात्कार ज्ञानप्राप्तिका एक मात्र प्रसव है; जो कुछ हम देखते सुनते हैं, तथा जो कुछ अन्यान्य लोग देखते सुनते हैं और जो कुछ लोग पढ़ते समझते हैं, बस उतनी ही वस्तुएँ हैं और उन्हींको मनुष्य जान सकता है; उन वस्तुओंके अतिरिक्त और कुछ भी जाना नहीं जा सकता। इधर कुछ दिनोंसे नये चिन्तन-शील वीरोंने एक और सूक्ष्मतर ज्ञानवृत्ति की बातका कहना प्रारम्भ कर दिया है; जैसा कि Bergson का intuition है। यह intuition अन्तर ज्ञानकी ही एक विशेष शक्ति है।

एक अनोखे विचार-(curious observation) के सम्बन्धमें कहकर आजकी बातचीत उन्होंने समाप्त कर दी। उन्होंने कहा कि, प्रत्येक नये कर्मकी तरंग तीन पुरुषोंके रहनेसे सूख जाती है।

इस नये युगमें क्या मिलेगा, यह जाननेकी आवश्यकता है। आज यहीं तक।

३

शक्ति सब कुछ करती है—मैं उसका यंत्र हूँ, बस यही अनुभव योगका सब कुछ नहीं है। साधकको यह भी अनुभव करना होगा कि, शक्ति साधककी ही है—पुरुषकी इच्छामें साधक ही कार्य करता आ रहा है। शक्तिके साथ साधकका अंगांगि-परिचय हो जानेपर ही ज्ञानका विकाश होता है। साधक सबसे पहले शक्तिके हाथमें ही आत्म-समर्पण करता है; वह शक्तिकी लीला ही देखता है और जगतमें शक्तिकी लीला-का ही अनुभव भी करता है। शक्तिके साथ अपनेको मिला देने-पर ही साधक यह देख भी पाता है कि, इस अनन्त विराट् शक्तिके आगे पुरुष विद्यमान है। पुरुषका दर्शन हुए बिना योगके पूर्ण विकाशका होना कदापि सम्भव नहीं। पुरुषके प्रत्यक्ष हो जानेपर इस बातका अनुभव हो जाता है कि, उस पुरुषकी इच्छा साक्षात् रूपसे ही हमसे कार्य करा रही है। फिर उस समय यंत्रका बोध नहीं रह जाता। उस समय साधक अपनेको ही शक्ति रूपमें पाता है। उस समय साधक यंत्रके बदले स्वयं शक्ति रूपमें विराजमान भी हो जाता है।

* * * *

इस पुरुषको बिना जाने या बिना प्राप्त किये, यंत्रबोधकी

साधना अपूर्ण रहती है। केवल भावकी लीला है, भाव ही बड़ा हो जाता है। शक्ति सब काम करा रही है, शक्ति ही अनुभव करा रही है, शक्तिका संस्पर्श ही यंत्रका सर्वस्व है, इस प्रकारके भावकी भावमग्नावस्था बहुत अच्छी हो जानेपर भी पूर्ण योगीको और आगे बढ़नेकी आवश्यकता रहती है तथा उसे आगे जाना पड़ता है। बंगालमें भाव सरलतासे पाया जाता है। भावके पागल यहाँ बहुतसे हुए हैं। किन्तु भावके साथ ज्ञानका मिश्रण चाहिये, सो इसीके लिये बंगालको वेदान्तकी चर्चा करनी पड़ेगी। भाव, भक्तिका द्योतक है, भक्ति रहनेसे भगवानका कार्य करनेकी शक्तिका अभाव नहीं रह जाता; किन्तु इसके द्वारा ज्ञानका विकाश नहीं हो सकता। ज्ञानका आगमन हुए बिना बृहद् सृष्टिका होना असम्भव है। ज्ञानसे ही भगवानको अनन्त भावसे निश्चय किया जाता है; अनन्त वैचित्र्यका एकत्र समुच्चय न करनेसे क्षुद्र सृष्टिका होना अनिवार्य हो जाता है। किन्तु क्षुद्रता भागवत इच्छाका विरोधी धर्म है; क्योंकि प्रत्याघातसे उसके शतधा विच्छिन्न होनेकी सम्भावना रहती है। इसलिये लोगोंको बृहद् होकर ज्ञानको पूर्ण रीतिसे धारण करना चाहिये। ज्ञानकी सहचरी समता है—समता ही बृहद् सृष्टिकी खास जड़ है।

*   *   *   *

बंगालमें भक्ति और कर्म है। नयी सृष्टिके लिये इन दोनोंकी बहुत बड़ी आवश्यकता भी है। किन्तु तुमलोग (बंगाली

लोग) भक्ति और कर्ममें ज्ञानको मिला दो; देखोगे कि तुम्हारा संघ संसार-विजयी होगा। ज्ञानके साधनकी यदि उपेक्षा करना हो, तो सृष्टिकी विशालतापर ध्यान ही मत दो, क्योंकि सृष्टिकी विशालता ज्ञानके बिना किसी प्रकार भी मस्तिष्कमें स्थित नहीं होगी। चैतन्यके समयसे आजतक बंगालमें जो कुछ हुआ है, सबमें इस ज्ञानका अभाव था—इसीसे किसीको सफलता प्राप्त नहीं हुई।...........में भी ज्ञानकी पूर्ण स्थापना नहीं थी; जो कुछ उन्होंने किया था, सभी...........शक्तिके आधार पर; भक्ति और कर्म उनमें जितना वृहद् हो गया था, उसके अनुसार ज्ञानकी पूर्णता नहीं हुई थी। उनका निर्माण भी अधिक दिनोंतक स्थित नहीं रहेगा। भक्ति और कर्म दोनों-की उत्पत्ति सृष्टिसे नहीं; चाहिये ज्ञान, बंगालमें ज्ञानकी साधना प्रबल करनेका प्रयोजन है।

*   *   *   *

कार्य केवल दरिद्र नारायणकी सेवा नहीं है। फिर देशके वन समूहमें परिणत हो जानेपर दो मुट्ठी अन्न भी तो नहीं मिलेगा। अतएव कार्यमें भी सृष्टिका कई अंशोंमें प्रयोजन है। यही सब कुछ करता है, सृष्टि कुछ भी नहीं करती और न कर ही सकती है।

*   *   *   *

मठका आदर्श negation of कर्म अर्थात् कर्मका इन्कार है। मठके साथ ही साथ ध्वंसका बीज है। मठ शंकराचार्यके

युगमें भी स्थायी नहीं हो सका था और न इसी युगमें स्थायी होगा। पूर्ण ज्ञान आये बिना और कोई वस्तु उसे स्थायी कर भी नहीं सकेगी।

* * * *

तुमलोगोंमें भी पूर्ण ज्ञान चाहिये, नहीं तो पतनकी बहुत ही बड़ी आशंका है। कर्म और भक्ति बंगाल प्रान्तकी मिट्टीका गुण है; इस क्षेत्रमें मनुष्यका दोष कुछ भी नहीं है। इसलिये बीच बीचमें इन दोनोंको छोड़कर ज्ञानका साधन करना पड़ेगा। बंगालमें क्षत्रियत्व ही पैदा हुआ है—किन्तु ब्राह्मणत्व-का प्रस्फुरण अभीतक नहीं हुआ। तुमलोग भी आज कर्ममें पागल हुए हो, और भक्तिकी उत्ताल तरंगमें डूब रहे हो—किन्तु यह विश्वास करो कि, ज्ञानाभावके कारण सब व्यर्थ होगा, इसीसे इतनी बातें कही गयी हैं। जिस प्रकार बंगालमें कर्म और भक्ति है, उसी प्रकार मद्रासमें ज्ञान और भक्ति है, शक्तिका बहुत बड़ा अभाव है। यदि दोनोंका सम्मिश्रण सम्भव होता, तो फिर किसी बातकी अड़चन न रह जाती—किन्तु यह सम्भव ही नहीं है। मद्रासकी बुद्धि विपथ-गामिनी, गुजरात संकीर्ण तथा बम्बई चालाक है, उसकी बुद्धिमें गम्भीरता नहीं है। इसलिये और किसीके द्वारा कार्यारम्भ नहीं होगा, बंगालको ही सब करना पड़ेगा। क्योंकि यहाँ ज्ञानकी स्थापना होनेसे ही सब झंझट दूर हो जायगी। सत्य मानो

कि भारतके सब प्रदेश बंगालकी ओर ही टकटकी लगाये बैठे हैं; बंगाली ही मुक्ति मंत्रके आचार्य होंगे।

बंगालियोंमें बुद्धि तो है, किन्तु वह ज्ञान नहीं है, ज्ञानका अभाव है; बुद्धिमें शीघ्रता तो अवश्य होती है, किन्तु गम्भीरता नहीं और न वह विराट् ही है। बुद्धिमें शान्ति, गम्भीरता और विशालताका आना ही ज्ञानका उदय होना है। भक्ति चाहे जितनी प्रबल हो जाय, किन्तु ज्ञानका उदय हुए बिना उसमें भावच्युति अवश्य ही आवेगी। इसलिये बंगालियोंको ज्ञानकी ओर अधिक झुँकना होगा।

यह सब आवेगा काम करते करते, अनायास ही नहीं। भगवानके समीप आत्म-समर्पण करके, एक दूसरेकी ओर दृष्टि रखकर संघबद्ध होकर काम करते जाओ। ध्यान रक्खो कि कर्म ही जीवनका उद्देश्य नहीं है, ज्ञानका उदय ही सृष्टिका मूल भंगी होगा। ज्ञान जिस समय भक्ति और शक्तिके सम्मिश्रणका रूप धारण करेगा, उस समय सृष्टि सार्थक हो जायगी; हजारों बार उत्थान और पतनमें होकर गुजरना पड़ेगा। बीच मार्गमें विषाद उत्पन्न होकर जीवनपुरीको चूर्ण विचूर्ण करने न पावे, इसकी ओर तीक्ष्ण दृष्टि रक्खो। बस इसी दर्शन-योगमें ज्ञानावतरण सुसिद्ध होगा, इस क्षेत्रमें नैराश्य और संशयकी बात बिलकुल ही नहीं है।

४

भाव और कर्मकी तरंगसे ही काम नहीं चल सकता। उसके साथ ज्ञानका मिश्रण चाहिये। ज्ञानका मिश्रण हुए बिना सब निष्फल हो जायगा। पूर्ण साधनामें ज्ञान और शान्ति है। उसमें कर्म भी है, किन्तु साधारण नहीं; भक्ति है, किन्तु चित्त-वृत्तिके भाव से (emotionalism) उत्पन्न नहीं। कर्ममें भक्तिका स्थान है, किन्तु हमें भक्ति एवं कर्मके ऊपर रहना होगा। वहाँसे ही हम शान्तिके आनन्दका अनुभव करेंगे। कर्म एवं भक्तिमें भी आनन्द है, किन्तु वह आनन्द शान्तिका आनन्द नहीं है। कारण यह है कि, इनमें पूर्णता नहीं है, इसलिये इनका आनन्द भी शान्तिका आनन्द नहीं। जब कर्म एवं भक्तिको छोड़कर ऊपर निकल जायँगे, तब जो ज्ञान प्राप्त होगा, उसीमें शान्ति-का पूर्ण आनन्द है। अक्षर-ब्रह्मका जो ज्ञान है, उसमें कर्म एवं भक्तिका आनन्द नहीं है। किन्तु पूर्ण-ज्ञानमें दोनोंका ही स्थान है। mental consciousness अर्थात् मानसिक ज्ञानको छोड़-कर एक आत्मिक ज्ञान–(supramental consciousness) में रहना पड़ेगा और वहीं हम ज्ञान, भक्ति, शक्ति, कर्म और भाव सब समान भावसे प्राप्त कर सकेंगे।

* * * *

हम लोगोंमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (individual liberty) उत्पन्न होनेकी आवश्यकता है। यहाँपर हम पाश्चात्य देशोंकी स्वतन्त्रता-(liberty) की बात नहीं कह रहे हैं बल्कि स्वर्गीय स्वतन्त्रता-(divine liberty) की बात कह रहे हैं। आत्माका जानकार होनेपर नारायणी या स्वर्गीय स्वतन्त्रता (devinised) प्राप्त होगी, यह कोई मुख्य बात नहीं है। आत्माका जानकार होनेपर भी प्राण और बुद्धिकी लीला रहती है। प्राण और बुद्धिके ऊपर जाकर ज्ञानमें स्थित हो दैवत्त्व (diminity) प्राप्त करना होगा। आत्माका जानकार हो जानेपर भावका रहस्य प्रकट हो सकता है, किन्तु इस भावका भी हमें क्रमोल्लंघन करना पड़ेगा। प्राश्चात्य देशवालोंकी जो स्वतन्त्रता है, उसमें स्वर्गीयत्त्व नहीं है अर्थात् वह स्वर्गीय स्वतन्त्रता (divine liberty) नहीं, बल्कि उनकी स्वतन्त्रता कर्मकी स्वतन्त्रता है। कर्मकी स्वतन्त्रता होनेके कारण ही एकताका विकाश उनमें नहीं हो रहा है। कर्मसे जो एकता पैदा होती है, वह वैयक्तिक (individuality) स्वतन्त्रताका सामान्य स्पष्टीकरण मात्र है। इसीसे कर्मकी स्वतन्त्रतासे स्वर्गीय स्वतन्त्रता उत्पन्न नहीं होती।

* * * *

जिस समय मनुष्य, भाव और मनका राज्य छोड़ता है, उस समय उसके मनमें आत्मिक विचार-शक्ति-(supramental reason) की लीला होती है। इस आत्मिक विचार-शक्ति-(supramental reason) की लीलाको ही भावमें मिलाना

पड़ता है। पश्चात् उसको हृदयमें स्थित रखनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जब मनुष्य इस अवस्थामें पहुँचता है, तब उसके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश तो हो जाता है अवश्य, किन्तु उस समय भी वह प्रत्यक्ष रूपसे यह नहीं देख पाता कि, दूसरे-के हृदयमें किस समय क्या हो रहा है। बस यही आत्मिक विचार-शक्ति (supramental reason) के ऊपर आत्मिक दैवा-देश (supramental inspiration) का राज्य है। इस स्थानपर पहुँचनेसे ज्ञानका प्रकाश बिलकुल स्पष्ट और उज्वल हो उठता है। ईश्वरकी प्रेरणासे फिर उसे दूसरोंका हृदय भी दिखायी पड़ने लगता है, किन्तु उसका ठीक अनुभव नहीं होता। इसके ऊपर विज्ञानकी लीला है; वहाँ असली ज्ञान है। वहाँ पहुँचनेपर यह ज्ञान होता है कि knowledge by identity अर्थात् मैं सबके भीतर स्थित हूँ। इस अवस्थामें वह अनुभव करता है कि सब कुछ मुझमें है और मैं भी प्राणिमात्रमें हूँ। बस इसी समय इस बातका भी अनुभव होता है कि, मुझमें और ईश्वरमें कुछ भी भेद नहीं है, मैं ही ईश्वर हूँ। इस समय दूसरेके हृदयका कार्य भी स्पष्ट दिखायी पड़ने लग जाता है, कुछ भी कमी नहीं रह जाती। इन तीनों अवस्थाओंकी जो भिन्न भिन्न अवस्थाएँ हैं, उनमें प्रत्येक अवस्थाकी अनेक श्रेणियाँ हैं, एवं सबमें विचित्रता है। विज्ञानमें पहुँचनेपर साधक लीलाके छलसे फिर नीचे आ सकता है, किन्तु नीचे आना साधककी इच्छासे नहीं होता बल्कि शक्तिकी इच्छासे होता है। ऊपर जिस विज्ञानकी लीला

हो रही है, उस विज्ञानके लीला-क्षेत्रसे साधकका हटना केवल भाव एवं मनको भी उसके साथ ऊपर खींचनेके लिये ही होता है। विज्ञानमें उठ जानेपर भी शक्तिकी इच्छा होनेसे साधक नीचे आ जाता है और शारीरिक अवस्थामें ही वह कुछ कालतक बास करता है। किन्तु इसे पतन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकार नीचे आनेसे नीचेकी सब अवस्थाएँ झलक उठती हैं और वे भी उच्च हो जाती हैं। पश्चात् आनन्द ही आनन्द रह जाता है, क्योंकि नीचेकी अवस्थाएँ भी आनन्दमय ही हो जाती हैं। मनुष्य हर अवस्थामें एक प्रकारके आनन्दका अनुभव करता रहता है। सबके प्राण, मन, बुद्धि एवं विज्ञानलोकमें आनन्द है। इस आनन्दको भी सच्चिदानन्द कहा जा सकता है, किन्तु विज्ञानके ऊपर मनुष्य जिस आनन्दका अनुभव करता है, वह अनन्त सच्चिदानन्द है। वहाँसे फिर नीचे गिरना ही नहीं पड़ सकता। अभिलाषाका भी एक आनन्द है, किन्तु वह कर्मका आनन्द है। हृदयमें जो आनन्द है, वह भक्तिका आनन्द है। इस आनन्दमें मनुष्यके भावोंकी लीला हो सकती है। भक्तजन अपने भगवानको उसी लीलाका सर्वस्व अर्पण करके आनन्द पाते हैं। कर्मी अपना सम्पूर्ण कर्म श्रीकृष्णके लिये करता है, यही समझकर वह आनन्द पाता है। किन्तु इन सब आनन्दोंकी भी एक सीमा (limitation) है। वहाँ ज्ञानका प्रकाश प्रस्फुटित नहीं होता, क्योंकि 'मैं' बना रह जाता है।

* * * *

भगवान श्रीकृष्णको सखा रूपसे जानना, सख्य साधना है। पश्चात् दास्यकी साधना क्या है ? श्रीकृष्ण प्रभु हैं और मैं दास हूँ, यही दास्यकी साधना है; वात्सल्यकी साधना भी इसी प्रकारकी है। शान्तकी साधना हर समय चल सकती है और मधुर साधनामें सबको भरकर विज्ञानलोकमें ले जाती है। इस विज्ञानलोकमें पहुँचनेपर सख्य, शान्त, दास्य, मधुर आदि किसी साधनाका भेद नहीं रह जाता। सारी साधनाएँ उस जगह एक समयमें ही हो सकती हैं। एकके बाद दूसरी अवस्था बराबर प्राप्त होती जाती है और उन सब अवस्थाओंमें भिन्न भिन्न प्रकारकी साधनाएँ भी चलती हैं। उस समय 'मैं' रूप अहंकार विद्यमान रहता है, किन्तु विज्ञानमें पहुँचते ही 'मैं' नहीं रह जाता। उस समय प्राणिमात्रमें ही विश्वज्ञान-(universal consciousness) का अनुभव किया जाता है। साधनाकी प्रथमावस्थामें मन एवं बुद्धिकी लीलाको विज्ञानकी लीला समझनेका भ्रम भी हो सकता है, किन्तु धीरे धीरे साधन करते करते वह भूल सुधरकर ठीक हो जाती है।

* * * *

योग-ग्रहण करना तो उतना कठिन नहीं है, किन्तु इस मार्गमें दो बातें बड़ी जटिल और दुरूह हैं। पहली बात समता (commune) और दूसरी विज्ञान। पहली बात समता (commune) ही त्रिमार्गकी* साधना है। बस यही योगकी

१—ज्ञान, भक्ति और कर्म इन्हीं तीनोंका नाम त्रिमार्ग है और तीनों-

भित्ति (दीवार) है और इसीके ऊपर समता (commune) एवं विज्ञान दोनोंकी स्थापना है। किन्तु इस त्रिमार्गकी साधना करते रहनेपर भी विज्ञान एवं समता-(commune) का अभाव होनेसे योगमें पूर्णता नहीं आती। यदि इनमें एक भी अपूर्ण रहता है, तो योगकी पूर्णता होनेमें बहुत विलम्ब हो जाता है। विज्ञानकी साधना न होते हुए भी योगके ऊपर (अर्थात् त्रिमार्ग साधनाके ऊपर) निर्भर करके समता-(commune) का भाव उत्पन्न किया जा सकता है, किन्तु विज्ञानके बाद दे देनेपर जो समता (commune) गठित होती है, वह कभी भी स्थायी रूपसे टिक नहीं सकती। अन्तः-करणके ऊपर नींव (basis) रखनेसे ही त्रिमार्गकी साधना की जा सकती है, और तभी वह होती भी है। वहाँ किसी प्रकारसे समता (commune) टिक नहीं सकती, सो नहीं है; हाँ इतना अवश्य है कि, विज्ञानकी साधनाके अभावमें वह थोड़े समयमें नष्ट अवश्य हो जाती है। भारतमें आजतक जितने धर्मोंका उदय हुआ, उन सब धर्मोंमें इस विज्ञानकी साधनाका अभाव था। भावके ऊपर विज्ञानको निर्भर करके चैतन्यका धर्म पैदा हुआ था। कुछ दिनोंके लिये चैतन्य धर्मकी बड़ी ही उन्नति

का साधन करना ही त्रिमार्गकी साधना है। ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनोंकी व्याख्या इस पुस्तकमें पहले ही कर दी गयी है। सत्य, प्रेम और शक्तिके द्वारा ज्ञान, भक्ति और कर्ममें मनुष्य अग्रसर होता है।

हो गयी थी और उसका खिंचाव (intensity) बड़ा ही प्रबल हो गया था; किन्तु विज्ञानकी साधनाका अभाव होनेके कारण वह धर्म टिक नहीं सका। बुद्धका धर्म भी ज्ञानपर स्थित था अवश्य, किन्तु उसमें भी उससे ऊँचा विज्ञान नहीं था; इसीसे वह भारतमें जीवित नहीं रह सका। बौद्ध धर्मका निशान भारतमें नहीं था, चीन और जापानमें उसने आश्रय लिया है। और भी न जाने कितने धर्मोंमें यह विज्ञान नहीं था, इसीसे उन धर्मोंमें एक धर्म भी स्थायी नहीं हो सका। विज्ञानकी साधना न होनेपर भी समता-(commune) का भाव रह सकता है। अनेक धर्मोंमें यह भाव था भी, किन्तु केवल विज्ञानका अभाव होनेके कारण ही उन सब धर्मोंका पतन हो गया। औरोंकी तो बात ही क्या, वैदिक आर्योंमें भी इस विशाल विज्ञानकी पूर्णता नहीं हो पायी थी, इसीसे वैदिक धर्ममें जिस समता-(commune) की लीला दिखायी पड़ी थी, वह भी पूर्ण नहीं हुई। बस यह विज्ञान ही इस युगका नवीन दान (contribution) है। विज्ञान न होनेपर भी योग एवं समता (commune) दोनोंकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु वह मनोमय-शरीरकी अवस्था (mental plane *) का योग

---

* Mental plane (मेण्टल प्लेन)—मान लीजिये कि, हम मद्रास गये हुए हैं और मद्रास शहर हमारा देखा हुआ है। अब यदि हम किसी समय मद्रासते दूर रहकर भी मद्रासकी बस्तीका ध्यान करते हैं, तो उस

है। इस मनोमय शरीरकी अवस्था-(mental plane) में सब तरहकी साधनाओंका होना सम्भव है; हाँ उन साधनाओंके स्थायित्वकी सम्भावना अवश्य ही अल्प है। कर्म करनेके समय कर्मका प्रमत्त भाव जिसमें न आवे, इसकी ओर लक्ष्य रखकर सदा सावधान रहना चाहिये। कर्म करना होगा, किन्तु कार्यमें इस प्रकारकी पूर्ण शान्तावस्था रखनी होगी, जिससे कर्मके ऊपर जानेपर वहाँ हम अच्छी तरह स्थित भावसे निवास कर सकें। विज्ञानकी इस शान्तावस्थाके आये बिना कर्मकी प्रमत्ततामें अपनेको गिरा देनेकी और अपने गिरनेकी सम्भावना रहती है। विज्ञानकी साधनाके अभावमें ही कर्मकी प्रमत्तावस्था है।

शहरकी बस्ती—सड़कें, मकान आदि जिस वस्तुका हम ध्यान करना चाहते हैं, वह हमारी आँखोंके सामने स्पष्ट दिखायी पड़ने लगती है। ऐसी अवस्थामें हम अपनी आँखोंके सामनेकी वस्तु देखते हुए भी नहीं देखते और वे अदृश्य वस्तुएँ सामने न रहनेपर भी दिखायी पड़ने लग जाती हैं। बस इसीको 'मनःचक्षु' कहते हैं। इस प्रकार मनके भीतर बहुतसे पर्दे हैं। उन्हीं पर्दोंमें एक अवस्थाको mental plane (मेण्टल प्लेन) कहते हैं। इसके लिये हिन्दीमें कोई शब्द न मिलनेके कारण हमने 'मनोमय शरीरकी अवस्था' और कहीं केवल 'मनोमय शरीर' का ही व्यवहार किया है।

५

किसी प्रकारका भी अहङ्कार नहीं रहने देना चाहिये। बहुतोंमें सात्त्विक गर्व्व रहता है। बाहरसे सात्त्विक अहङ्कार, राजसिक अहङ्कार या तामसिक अहङ्कारकी अपेक्षा अच्छा दिखायी पड़ सकता है, किन्तु वास्तवमें वह भी अहङ्कार ही है। सात्त्विक अहङ्कार रहनेसे ही, एक दिन राजसिक या तामसिक अहङ्कार प्रकट हो सकता है। क्योंकि जहाँ सात्त्विक अहङ्कार रहता है, वहाँ राजसिक और तामसिक अहङ्कार भी भीतरमें सूक्ष्म रीतिसे अलक्षित पड़ा रहता है। राजसिक और तामसिक अहङ्कारके प्रकट होनेपर आपत्तिकी मात्रा अधिक हो जाती है। कुशल इसीमें है कि, अहङ्कार बिलकुल रहनेही न पावे—चाहे वह सात्त्विक अहङ्कार हो, चाहे राजसिक अहङ्कार अथवा तामसिक अहङ्कार कोई भी क्यों न हो। हाँ, सात्त्विक अहङ्कारकी नींवपर एक धर्म उत्पन्न हो सकता है, किन्तु वह धर्म मनोमय शरीर-(Mental plane)मेंही रहेगा; अन्त:करणके अतिरिक्त विज्ञानमें वह कभी नहीं पहुँच सकता, और सात्त्विक अहङ्कारको लेकर जो धर्म उत्पन्न होगा, वह नियमबद्ध होगा। इस कार्यसे ही इस क्षेत्रमें एक पन्थ-(Sect) के उठ खड़ा होनेकी अधिक सम्भावना है। सात्त्विक अहङ्कारके

भीतर भी उदारता (largeness) नहीं है, इसीसे उसमें भी संकीर्णता है। सात्त्विक अहङ्कारको देकर उसके बदलेमें एक धर्म लाया जा सकता है—उससे एक सामाजिक परिवर्तन-social change) का होना भी सम्भव है, किन्तु यह काम हमलोगोंका नहीं है।

*   *   *   *

हमलोगोंको आवश्यकता है, एक पवित्र मनुष्यजाति-(spiritual humanity) की एक देवजातिकी। किन्तु विज्ञानमें बिलकुल ही उठ जानेपर सारे अहंका त्याग किये बिना, वह कभी सम्भव नहीं हो सकती अर्थात् वह देवजाति उत्पन्न नहीं हो सकती। जो वस्तु पहले कभी किसीने नहीं दी, इस युगमें वही वस्तु प्राप्त हुई है। अभीतक नूतन पाद-द्वय शेष रह गया है, ऐसी बात भी मनमें मत लाना। अपरि-मित-(infinit) के कितने अंशका प्राप्त होना इस युगमें सम्भव है, भविष्यमें और कितना अंश प्राप्त हो जायगा, इस समय अभी कितना समृद्ध होनेकी आवश्यकता है आदि बातोंका सोचना निर्मूल है। अपरिमित (Infinite) वस्तु भला शेष कैसे हो सकेगी, उसका व्यय कर डालना (exhaust) किसके वशकी बात है ?

*   *   *   *

आत्मसमर्पण करनेमें बहुतसे लोग सोचते हैं कि किसीके समीप कोई आत्मसमर्पण कर सकता है, यह भला कैसे सम्भव

है? अवश्य ही एक आदमी यदि देनेवाला (Giver) हो, तो दूसरे-को लेनेवाला (Receiver) होना पड़ेगा अर्थात् देनेवालेसे लेने-वाला भिन्न होना चाहिये और लेनेवालेको दी हुई वस्तु स्वीकार भी होनी चाहिये। लेनेवालेका स्वभाव यदि बाधा उपस्थित करेगा, तो देनेवाला बेचारा क्या करेगा? देनेवाला जो कुछ दे, उसे ग्रहण करनेवालेको बिना आनाकानी किये स्वीकार करना पड़ेगा। इसमें यदि किसी प्रकारकी कड़ाई होगी तो फिर ग्रहण करनेवाला भला दी हुई वस्तुको किस प्रकार ग्रहण करेगा? स्वतन्त्र खेलका कर लेना सम्भव है। दिये जा सकते हैं, योगके सिद्धान्त (Principles) और उसमें प्रवृत्तिकी (Push) शक्ति। किन्तु अपना स्वभाव देनेपर ही इसे मनुष्य ले सकता है। क्योंकि 'अहं'के निकल जानेपर ही इस स्वभावकी लीला होती है। स्वभावके एकान्तवासमें ही योगकी पूर्ण स्थापना सम्भव है।

* * * *

आत्मसमर्पण करना होगा भगवानके समीप, नकि मनुष्यके समीप। भगवान् सीमारहित हैं, मनुष्य यत्न करनेमें स्वतन्त्र है। किन्तु यत्नको लक्ष्य समझकर उसीका ग्रहण करना सर्वथा भूल है। हमारे देशमें गुरुवादके कारण बहुतसी रुकावटोंका प्रवेश हो गया है। अब हमें गुरुभावको उड़ा देना चाहिये। आजतक जितने धर्म सम्प्रदाय हुए हैं—उनमें प्रायः सभी गुरुभावमें जकड़े हुए थे, केवल विवेकानन्दको ही हमने ऐसा देखा है, जिन्होंने गुरुभावमें अपनेको आबद्ध नहीं

होने दिया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस मिशनमें जितने लोग हैं या थे, वे सभी स्वामी रामकृष्ण परमहंसमें बँधे हुए हैं और पहलेके लोग भी बँधे हुए थे।

अहंका त्याग होनेपर भी अहंकी छाया रह जाती है। जबतक कि इस अहंकी छाया भी मानससे नहीं निकल जाती, तबतक मनुष्यके सूक्ष्म शरीरमें कार्य होता रहता है। जब मनुष्य मनोमय शरीर-(highest stage) की सबसे ऊँची मंजिल-(mental plane) पर पहुँच जाता है, तब भी उसके सात्त्विक अहङ्कारकी छाया अवशेष रहती है, एवं इस अहंकी छायाको अपने वशमें किये बिना वह काम नहीं कर सकता; और यदि वह करता भी है तो उसे एक गड़बड़ीकी उस विपरीतावस्थामें जाना पड़ता है, जिस प्रकारकी अवस्थामें परमहंसको जाना पड़ा था, वे कभी तो हँसते थे और कभी रोते थे। उनका यह हँसना और रोना उसी अवस्थाका लक्षण है। मनुष्य जिस समय मनोमय शरीरमें आकर स्थित होता है, उस समय उसके अहंकी छायातक चली जाती है। उस समय विज्ञानकी अवस्थासे उसका सारा काम होने लगता है।

* * * *

ध्यान करते समय बैठा रहनेपर चिन्ता-प्रवाह जब कम हो जाय, तब इस ओर पूरी शक्ति लगानी चाहिये। ऐसा करनेसे भीतरमें शान्ति उत्पन्न होगी और उस शान्तिसे मानस ज्ञानके प्रकाशसे परिपूर्ण हो जायगा। उस समय ऐसा मालूम होगा

कि ऊपरसे ज्ञान-धारा गिरकर मानसमें आ रही है। इस प्रकार करते करते जब साधक विज्ञानमें पहुँच जाता है, तब उसकी यह अवस्था विलक्षण (abnormal) नामसे सम्बोधित की जाती है, और इस ज्ञानमें जो स्थित अवस्था है, वही स्वभाव कहलाता है। पहले पहल योगकी जो अवस्था होती है, उस अवस्थासे मनुष्यकी अवस्था ही स्वाभाविक होती है। बस इस ज्ञानकी अवस्थाका नाम ही विलक्षण (abnormal) है; साधारण लोग कर्मकी प्रवृत्ति-(impulse) से कर्म करते हैं और योगीलोग यह देखते हैं कि, कर्मके बाद एक महान बिराट् भाव रहता है—उसी ज्ञानके अनुभवके सहारे वे कार्य (कर्म) करते हैं।

* * *

कर्मसे परे जो महान और विराट् भाव रहता है, उसका अनुभव तो होगा ही, उसके बाद और भी अनुभव करना पड़ता है—पुरुषका—उसपुरुषका जो शक्तिसे भी परे रहकर कार्य करा रहा है। इस पुरुषका अनुभव होनेपर ही पूर्ण-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। साधनाके ज्ञानकी तीन अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है आत्मज्ञानकी, दूसरी ब्रह्मज्ञानकी और तीसरी है भगवद्ज्ञानकी। आत्मज्ञान होनेपर यह प्रतीत होने लगता है कि, मैं सबमें स्थित हूँ और सब मुझमें स्थित है; इसकेबाद जिस समय ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उस समय यह प्रतात हो उठता है कि, सब एक है, किसीमें भेद नहीं है और सृष्टिकी

सारी वस्तुएं ही ब्रह्म हैं; सबके अन्तमें जब भगवद्ज्ञान हो जाता है, तब यह प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने लग जाता है कि, ब्रह्म-ही भगवान है, भगवान सब प्राणियोंमें हर समय विराजमान रहा करते हैं। उस समय एक विश्व-ज्ञानसे साधक परिपूर्ण हो जाता है—संसारमें उसे फिर कुछ भी भेद दिखायी नहीं पड़ता। सारा जगत्ही इस समय उसे भगवानमय दिखने लग जाता है। यह जो हमने विभिन्न ज्ञानकी बात कही है, इसमें कौन ज्ञान पहले होता है और कौन पीछे, इसका कोई नियम नहीं है। इस प्रकारके पूर्ण ब्रह्मज्ञान-सिद्ध सौ योगियोंकी आवश्यकता है। एक सौ योगियोंके होनेसे संसार-में एक अलौकिक परिवर्त्तन हो जायगा।

* * *

वर्त्तमान समयमें जिस भावसे साधना चल रही है, उसमें कर्म एवं भक्ति ही प्रबल है। शक्ति एवं प्रेम विशाल समुद्रका फेन है, किन्तु इस फेनके लिये रहनेहीसे काम नहीं चलेगा। इस फेनके उत्पत्ति-स्थानमें पहुँचना होगा। वहीं पहुँचनेकी आवश्यकता भी है। तभी शान्तावस्था आवेगी और तभी अतल (पातालका प्रथम खंड) भी देखनेमें आवेगा। यदि केवल फेनमें ही रह जाओगे, तो धोखा खाना पड़ेगा। किसी न किसी दिन जब फेन सूख जायगा, तो फिर क्या करोगे? जिस समय ज्ञान-समुद्रमें डुबकी लगाओगे, उस समय उसमें शक्ति

एवं प्रेम, कर्म एवं भक्ति—सब पा जाओगे और सभी बराबर बराबर पाओगे। यह ज्ञान साधारण-ज्ञान नहीं है, यह ज्ञान पूर्ण-ज्ञान हैं। विज्ञान इसकी नींव (basis) है—इस विज्ञानमें ज्ञान, भक्ति, कर्म सब कुछ रहता है।

इस पूर्ण-ज्ञानका निश्चय करनेके लिये साँचा तैयार करनेकी आवश्यकता है। सांचा ठीक हो जानेपर ज्ञानकी सिद्धि (perfection) होनेमें देर नहीं लगती अर्थात् पूर्ण-ज्ञान प्राप्त होजाता है। इसलिये सबसे पहले सांचा तैयार होना चाहिये। देह, प्राण, मन सब पूर्ण रीतिसे समर्पित हो जानेपर भगवान उसके भीतर ज्ञान ढाल देते हैं। उस समय ज्ञानका ढालना भगवान बन्द नहीं करते, निरंतर ज्ञानकी धारा प्रारम्भ ही रखते हैं। सांचा तैयार हो जानेपर पूर्ण-ज्ञानकी स्थापना सरलता पूर्वक हो जायगी। पूर्ण-ज्ञानकी स्थापनाके साथ ही साथ कर्म भी वृहद् होता जायगा। सिद्धि-(perfection) के आ जानेपर कर्मका आरम्भ करना होगा, सो नहीं है; ज्ञानका आना यदि प्रारम्भ हो जायगा, तो कर्म करते करते ही उसमें पूर्णता आ जायगी। पहले पहल ध्यान-(meditation) की आवश्यकता है। इससे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। किन्तु जिस समय धीरता (passivity) या शान्ति आ जाय, उस समय एक इच्छाका दृढ़ (insistence of will) रहना आवश्यक है। सब कर्मोंमें ही धीरता या सहनशीलता (passivity) रखनी चाहिये। जिस समय कोई

काम न रहे, उस समय इसी ओर पूरी शक्ति लगानी चाहिये। *

---

* अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक जीवन व्यतीत करते हुए यह काम किया जा सकता है, और उसकी विधि यही है कि काम करनेमें सात्त्विक भाव रखे, काम अपने लिये नहीं बल्कि भगवानके लिये समझकर करे, सब काम भगवानको समर्पित कर दे तथा इस प्रकारके कामोंसे अवकाश मिलनेपर धीरतापूर्वक ध्यानकी ओर पूरी शक्ति लगावे। ध्यान और धारणाकी रीति मनन पूर्वक पढ़नेवालोंको इसी पुस्तकमें मिल जायगी। जिन्हें अधिक जाननेकी आवश्यकता हो वे श्रीमद्भागवत पुराणके एकादश स्कंधमें तथा योगवाशिष्ठमें देख सकते हैं; किन्तु इन दोनों ग्रंथोंमें उक्त प्रकरण देखनेके पहले वेदान्त सूत्रका किसी अच्छे गुरुसे अध्ययन कर लेना आवश्यक है। क्योंकि ऐसा किये बिना उक्त प्रकरण कुछ भी समझमें नहीं आ सकता। जाननेवालोंके लिये अन्यत्र ढूँढ़नेकी आवश्यकता ही क्या है? उन्हें तो गीतामें ही मनवांछित वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं, केवल ढूँढ़ निकालनेवाले पारखीकी आवश्यकता है। स्मरण रखना चाहिये कि शब्द केवल अर्थका संकेतमात्र है। वास्तविक पदार्थ शब्दके अर्थके पर्देमें छिपा रहता है। ग्रन्थोंमें केवल शाब्दबोधके सहारे स्थित रहनेसे काम नहीं चलता। पर यह याद रहे कि कर्म करनेमें सात्त्विकी भाव रहे। ध्यानके लिये थोड़ा बहुत समय निकालना आवश्यक है।

६

हम पहले ही कह चुके हैं कि, साँचेकी आवश्यकता है और वह साँचा मनकी बिलकुल प्रस्तुति हो जानेपर तैयार होगा। अतः पहले मनको तैयार करनेकी आवश्यकता है। फिर देखना कि सफलता होती है या नहीं। उस समय मन भी शान्त और स्थिर हो जायगा। उसमें शान्ति (stillness) आवेगी और बहुत बड़ी समताकी स्थापना भी होगी। शान्ति-(still-ness) के माने यहाँ और कुछ नहीं, अटल और अचल स्थिर-भाव तथा प्रवृत्तिके सब तरहके घात प्रतिघात—जो कुछ भी मनको विचलित करनेके लिये आते हैं, उन सबमें अविचल और निर्विकार (unaffected) रहनेका अभ्यास है। यह अविचल और निर्विकार भाव बुद्धि और मनका स्वभाव-सिद्ध भाव हो जायगा।

इसके साथ ही साथ एक महान और बृहद् विश्वभाव, एक अपरिमित वसूल-(infinite realisation) तक विश्व-मात्रके प्राणियोंको राग-द्वेष रहित होकर आह्लाद पूर्वक हृदयसे लगाने-(all-embracing) का भाव भी हो जाना चाहिये। भगवान अखंड भावसे संसारमें विराजमान हैं, इसलिये हमें सबमें वास करना होगा। अपनेको उसमें छोड़कर अन्तमें उसकी

गोदमें अंश रूपसे निवास करनेका अभ्यास सिद्ध होना चाहिये। मनकी इस शान्त-सत्तामें निरवच्छिन्न निमग्न रहनेका पूर्ण अभ्यास हो जानेपर धीरे धीरे विज्ञान अपना प्रस्फुटित होना आरम्भ करेगा। किन्तु इसके लिये किसी प्रकारका भी उतावलापन (impatience) न होना चाहिये और न अधीर ही होनेकी आवश्यकता है। अखंड निर्भरताके साथ डटे रहो,—भगवान धीरे धीरे सभी विघ्न-बाधाओंको दूर करके तुम्हें मनवांछित स्थानपर पहुँचा देंगे।

* * * *

पहले, विचारमें ज्ञान-प्रवाहका अनुभव करो। इसका विकाश ऊपरमें होता है। किन्तु चित्तके भीतर ईश्वरकी प्रेरणा—(inspiration)के रूपमें नीचे आनेपर नहीं, बल्कि चित्तको छोड़कर। इसके छोड़नेसे बहुत बड़ी फुर्ती प्रारम्भ हो जायगी। ऊँचे चित्तकी वही-(direct action)—स्वरूप सृष्टि कहलाती है। इसमें दो धाराएँ हो जाती हैं; प्रथम ज्ञान—एक नवीन ज्ञान घनीभूत हो उठता है—वही ऊपरसे अपने आपही तुम्हें दिखा सुना देगा। क्या करना होगा, किसमें अधूरापन या त्रुटि (imperfection) है, किसे रोकना पड़ेगा—आदि सारी बातें वह कहना आरम्भ कर देगा। वही भीतरका गुरु है। उसके प्रकाशसे फिर और सब करना पड़ता है। यह तो हुई पहली धारा; अब दूसरी ओर क्या होगा, सो भी सुनो;—एक स्वच्छ इच्छाकी उत्पत्ति होगी। पश्चात् एक समयमें इन दोनोंका—

सत्यज्ञान और मूल-इच्छाका—मिलान हो जायगा; जब सत्य-ज्ञान और मूल-इच्छाका मिलान हो जायगा, तब दोनोंहीकी अखंड स्वरूपमें परिणति हो जायगी।

*   *   *   *

ऊपरसे ही समस्त विज्ञानको खींच लो। समस्तका अच्छी तरहसे अन्तरज्ञान या अनुभव हो जाना चाहिये। जब इस अनुभवका काम बिलकुल स्वच्छ और निर्दोष हो जायगा, तब अपने आप ही इस बातका अनुभव करने लग जाओगे कि, उस काम (action) और साधारण चिन्ताके खेलमें क्या अन्तर या difference है। इतना ही नहीं, उस समय यह अन्तर धीरे धीरे बिलकुल स्पष्ट भी हो जायगा। इस तरह सब विज्ञान अनुभवमें आ जायगा। फिर तो विज्ञानका विकास अवश्यम्भावी हो जायगा। अन्तःकरणकी ओरसे पूर्ण परित्याग करना (surrender) चाहिये। विश्व-ज्ञान—(universal consciousness) का अर्थ है, सब एक अनन्त भगवानका निवास प्रतीत होने लगना, तथा उनकी अनन्त शक्तिके योगसे सब कुछ हो रहा है, इसका दृढ़ विश्वास हो जाना। उन्हींकी इच्छाके अनुसार होने दो, अपनी किसी प्रकारकी भी स्वतन्त्र इच्छा या जरासे हठतकको भी मत रहने दो; क्योंकि होता वही है, जो उनकी इच्छा होती है। किसी प्रकारकी भी तुम इच्छा मत करो, सब भगवानके ऊपर ही छोड़ दो। समझ जाओगे कि, उनकी मंगल इच्छा ही सारी

घटनाओंको उत्पन्न कर रही है—इससे तिलमात्र भी हृदयमें संशय मत रक्खो। भगवानमें सम्पूर्ण श्रद्धा रक्खो, भगवान जो कुछ त्रुटि (imperfection) देखते हैं, उस त्रुटिका निवारण करनेके लिये या उस त्रुटिको दूर करनेके लिये सब कुछ करते हैं। साधकको भगवानके इस कार्यको भी साधनाका एक अंग ही समझना चाहिये। क्योंकि साधनाके लिये इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता रहती है। भगवान कल्याण-स्वरूप हैं। अनन्तभाव और अनन्त प्रकारसे उनकी अनन्त-शक्ति कल्याण और मुक्ति विधानके लिये ही नाना प्रकारकी घटना-तरंगोंमें क्रीड़ा कर रही है। तनिक भी विचलित न होकर अक्षुण्ण, सम्पूर्ण और कल्याण करनेवाली श्रद्धा उनके ऊपर रक्खो। श्रद्धा ही सब ठीक कर देगी। श्रद्धा ही त्यागकी भित्ति (दीवार) है—इससे अनन्त ज्ञानकी प्राप्ति अवश्य होगी, अवश्य होगी, इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं है। श्रद्धाने ही पूर्ण-ज्ञानकी शिक्षाका भार ग्रहण कर रखा है, इसका ध्यान रहे।

* * * *

एक बात और है। वह यह है कि, संसारभरके प्रति स्नेह-(universal love) का भाव पूर्णरीतिसे हृदयमें रक्खो, किन्तु सबके लिये समान भावसे। किसीके लिये कम और किसीके लिये विशेष नहीं। प्राणीमात्रमें भगवान क्रीड़ा कर रहे हैं—यह स्मरण रहे। इस ज्ञानमें किसी प्रकारकी रुकावट पैदा न होनी चाहिये। एकसे गम्भीर स्नेह (deep love) करना ही

त्याग करना है। त्याग और पूर्ण-श्रद्धा होनेसे ही हृदयकी सारी बाधाएँ (obstructions) दूर हो जायँगी। भगवान सारी बाधाओंका ध्वंस कर डालते हैं। अधीर या विचलित न होकर स्थिर भावसे निष्ठा-पूर्वक आगे बढ़ते चलो—जब विज्ञानका आना प्रारम्भ हो जायगा, तब स्वरूप-लीला सिद्ध-रूपसे सम्पन्न हो जायगी।

* * * *

आवश्यकता इस बातकी है कि, पहले अपनेको सारी चिन्ताओंसे रहित कर दो। मन और बुद्धिको बिलकुल खाली कर देनेसे, एक स्तब्ध प्रसन्न शान्तभाव आता है। उस समय ऊपरसे एक आदमी विलकुल स्पष्ट रीतिसे बात कहना प्रारम्भ कर देता है। जो कुछ कहना होता है, वही वह कहता है और जो कुछ करनेका काम होता है, वही करता भी है। जिस समय हमें इस बातका पता लगा, उस समय जो कुछ उसने कहा वही हमने भी किया। तीन दिनमें ही बिलकुल विचारसे शून्य (empty of thought) हो गया। वक्तृता देनेका भार ऊपर आ पड़ा—किन्तु क्या बोलते—भीतर तो एकदम खाली था। ...से वही बात कहनेपर उसने कहा, कुछ भी करना नहीं होगा—ऊपरसे वह सब कुछ बोलेगा। वही हुआ—न जाने क्या क्या अंडबंड बोलना आरम्भ कर दिया। वह बिलकुल ही हमारी साधारण धारणा नहीं थी—नवीन भावभंगी-नवीन शब्द रचनाकी-(style)—जिस समय चमक समाप्त हुई,

उस समय देखते क्या हैं कि, हाथमें एक आदमी कागजका एक टुकड़ा दे रहा है। इस तरह भात्रमें......से......तक सारा मार्ग भाषण देते हुए गये। इस समय यह अवस्था बिलकुल प्राकृतिक हो गयी है। अपनी समझ–(intellect) से कुछ भी बोलना, करना या सोचना आदि नहीं पड़ता—सब ऊपरसे ही आता है।

येनकेन प्रकारेण मानसिक बनावट ही नहीं रखना है—यही विज्ञानकी प्राप्तिका पहला, प्रधान और अत्यावश्यक नियम (indispensable condition) है। बुद्धिकी जो कुछ चिन्ता है, मनका जो कुछ अनुभव है, वह सब ऊपरसे ही आता है—फिर नीचेके इस आधार-ज्ञानमें आकार मिलजुल जानेसे ही गोलमाल हो जाता है। उस समय समझ–(idea) के साथ समझका, बोध—(feeling) के साथ बोधका, शक्ति या प्रवृत्ति—(impulse) के साथ शक्ति या प्रवृत्तिका और फिर इन सबका परस्परमें किस प्रकारके विरोधका कार्य नहीं होता ? साधारण मनोमय (mental) अवस्था ही हमारी एक तरहसे इस प्रकारके निरंतर........(warring self-conflict) में पूर्ण है। मनका धर्म ही self-division है—उसमें सामञ्जस्यका होना बिलकुल असम्भव है। यथार्थ और अविकृत सत्य प्राप्त करनेके लिये मनको छोड़कर ऊपरमें जाकर स्थित होना पड़ेगा। वहाँपर ही वास्तविक ज्ञान, सत्य, प्रेम एवं सामञ्जस्य (harmony) है। विज्ञान ही सत्यका

निवास-स्थान या जन्म-भवन (home of truth) है। सबका पूर्ण और असल स्वरूप भी उसी जगह पाया जाता है।

*　　*　　*

मनके स्थित और शान्त होनेपर ही सत्यका प्रकाश होता है। भगवान जो स्वयं प्रकाश स्वरूप कहे आते हैं, वह बहुत ही ठीक और उचित है। मनके निश्चिन्त और स्थिर हो जानेपर भगवान अपने आपही प्रकाशमान होजाते है—अर्थात् उनका प्रकाश दिखने लगता है। विज्ञान—(supermind) को वेदों और उपनिषदोंमें सूर्य स्वरूप कहा गया है, यह भी बिलकुल ज्वलन्त सत्यकी अनुभूति है। सूर्यवर्ण ज्योति-पुरुषका अनुभव किया भी जाता है। यहाँ पहुँचनेपर सबलोग इस स्वरूपका अनुभव करते हैं और कर सकते हैं। विज्ञानको चौथा लोक कहा जाता है। प्रत्येक अवस्थाका एक एक विशिष्ट वर्ण (colour) है। शारीरिक अस्तित्व (physical substance) बाहरका यह पदार्थ नहीं है; यह तो उसका एक विशेष रंग है। गहरा लाल (crimson red)—विज्ञानका वर्ण, सुनहला प्रकाश (golden light)—हिरन्मयेण पात्रेण सत्यस्य अपिहितम् मुखम् , ये सब बातें प्रत्यक्ष अनुभव-जनित हैं। विज्ञान-सूर्यका यह सुनहला प्रकाश (golden light) सचमुचही अध्यात्म-शक्तिके सिद्धान्त—(psycho-spiritual realisation) से ही प्रत्यक्ष होता है। वैदिक ऋषियोंका इसी प्रकारका सिद्धान्त (realisation) था।

साधारण प्रेरणा (inspiration) या प्रत्यादेश जिसे कहते हैं, वह ऊपरसे ही आता है—किन्तु अलक्ष्यमें चित्त-भूमि पर ही गिरता है। पश्चात् उसी जगह फिर प्रस्फुटित होकर जाग्रत बुद्धिके पास जाकर उसपर आघात करता है। इसी अवस्थामें प्रेरणाका काम है। इसमें अनेक तरहकी भूलों और विकृतियोंकी सम्भावना नहीं है, सो नहीं है। क्यों नहीं है? इसलिये कि हृदयका मनके ज्ञानमें अवतरण करनेसे बहुत अधिक मिलावट हो जाती है। उसी मिली हुई प्रेरणाको लीला ही जीवनमें घटती है। इस तरह प्रेरणाकी लीलाको छोड़नेमें एकदम ऊपरसे सीधे काम-(direct action)का नाला (chamel) रूपसे अन्तःकरणको पाने देना होगा। इसीलिये हम अखंड समताके ऊपर इतना अधिक जोर दे रहे हैं। मन, चित्त और बुद्धिका एकभी काम बाकी रहनेसे कहीं कहीं उलझनकी सम्भावना रहती हैं। अविकृत धारण करनेके सामर्थ्यके लिये भी समताका बड़ा प्रयोजन है। इसके बिना भावके आधिक्यमें अनेक प्रकारकी शरीर और मनकी वैषम्यावस्थाओंके होनेका भय रहता है। ऊपरकी विद्युत् शक्तिके धारण करनेका पूर्णोपयोगी आधार खड़ा किये बिना ऊपरकी प्रवृत्ति शरीर और मनको चूर्ण भी कर सकती है। इस तरहकी अवस्थामें भीतरको कुछ दिनोंतक खाली करके रखनेसे उपकार होता है।

७

प्रधान संकट (chief difficulty) है, मनका ग्रास उठाने में। मनकी शठता अपरम्पार है। मन बिल्लीकी तरह ताक लगाये बैठा रहता है। ऊपरसे कुछ नीचे आने ही वह बिल्ली रूपी पुराना मन उसपर बड़े ज़ोरसे झपट पड़ता है और फिर अपना वही पुराना पचड़ा प्रारम्भ कर देता है। इच्छा-(will) की ओर ध्यान देनेसे भी ठीक यही रहस्य देखनेमें आता है। हमने देखा है कि, ऊपरसे थोड़ा बहुत नीचे आते ही उसपर पुरानी इच्छा अपने पुराने अभ्यासके अनुसार चढ़ बैठी है। थोड़ी दूर आगे चलकर जब देखा गया—something was wrong in the way (रास्तेमें थोड़ा अन्याय था)—तब फिर शान्तावस्थामें वापस आकर बैठना पड़ा। फिर तो सब ठीक हो गया। इस प्रकार मनकी दुस्त्यज्य शीघ्रता बहुत दिनोंतक चलती रहती है। धैर्य धारण करके धीरताके सहारे ही इस मनके भोगोंको हटाना चाहिये। पश्चात् मन धीरे धीरे शिष्ट होना आरम्भ कर देता है।

* * * *

दो तरहकी साधना है—एक अपने लिये तपस्या करना। दूसरी साधना। या यों भी कह सकते हैं कि कर्मयोग अथवा

ज्ञानयोग । यहाँ हम साधारण ज्ञानयोगकी बात कह रहे हैं। सबसे अलग होकर द्रष्टाभावसे देखना चाहिये कि मनके भीतर कैसी कैसी आकांक्षाएँ (desire), असर (impulse) और विचार (thoughts) उमड़ रहे हैं और शान्त हो रहे हैं। उदासीन होकर यह भी देखना चाहिये कि, किस वस्तुसे हानि पहुँच रही है। पहले-पहल इनमें मिलना चाहिये, क्योंकि इसके बाद ही इनपर दृष्टि पड़ती है। धीरे धीरे अभ्यास हो जानेपर, फिर तो साथ ही साथ सारी बातें स्पष्ट दिखायी पड़ने लगती हैं। सारा अनुभव प्रकृतिके त्रिगुणकी क्रीड़ातरंगकी शक्तिसे ही होता है। वस्तुतः, हम अपनी शक्तिसे किसी भी विचार (thoghts), बोध (feeling) या काम-(action) का होना नहीं कह सकते, और न किसीका श्रेय ही हमें है। सब प्रकृतिका दिया हुआ ही होता है। प्रकृतिद्वारा ही इन सबमें हमारी प्रवृत्ति होती है (Prakriti puts all there intous) और यह सब प्रकृतिकी ही ठगविद्या या विशेषता (trick) भी है—हम तो सिर्फ उससे मिले हुए ज्ञान-रहित होकर पड़े हैं। सुख दुःख, पाप-पुण्य फलाफलका द्वन्द्व मँचा हुआ है। एक उल्टी ठगविद्यासे अपने ऊपरकी प्रकृतिके इस कौशलकी क्रियाको व्यर्थ करनी पड़ेगी। वह ठगविद्या है, अपना पृथक्करण (self-dissociation)—अपनेको एकबार प्रकृतिसे अलग समझना— you are seved. अविचल द्रष्टा-पुरुष जितना ही स्थिर भावसे स्थित हो सकेगा,

उतना ही अधिक बन्धन-स्वरूप द्वन्द्व ढीला होगा और अन्तमें फिर द्वन्द्वकी इतिश्री हो जायगी। बस इसीका नाम ज्ञानयोग है। किन्तु यह ज्ञानयोग हो जानेसे ही सब काम समाप्त नहीं हो जाता। गुणोंसे अपनेको मुक्त कर लेनेपर भी, प्रकृतिके गुणोंका रूपान्तर हो जाना चाहिये। गीताकारने निस्त्रैगुण्यके परेके कर्त्तव्य एवं निर्देश (proposition) मात्रका उल्लेख करके ही अन्त कर दिया है। गीताकार उसे उत्तम रहस्यकी शक्तिसे रहस्य-में ही रख गये हैं। हमें उसी रहस्यका उद्धार करना पड़ेगा।

* * * *

कर्मयोगका प्रवाह भी इसी तरहका है। पहले, फलाफल-का समर्पण करके अर्थात् फलाफलकी आशा त्यागकर कार्य करते जाना चाहिये। हृदयमें भगवान् हैं, ऐसा समझकर उनका स्मरण करते हुए सब कामोंका आरम्भ करना चाहिये। यथा नियुक्तोऽस्मि। इसमें भी 'मैं' करता हूँ। इसके पश्चात् इस कर्त्तृत्वके अभिमानका भी त्याग (उत्सर्ग) कर देना चाहिये। फलके साथ ही साथ कर्मका भी समर्पण करना पड़ता है। सब कर्म प्रकृतिके गुणोंके अनुसार ही होते हैं, इसे पुरुष द्रष्टाभावसे देखता रहे। इसमें भी ज्ञानयोगका वही द्रष्टृत्व ही आया है। देखोगे कि, वह विश्वभावकी शक्ति, सारी चिन्ताओं, अनुभवों और सृष्टिका सम्पादन करके चल रही है। उस समय एक शान्त, समदर्शी और साक्षी अवस्था प्राप्त होती है। द्वन्द्व रहता है—किन्तु मन, प्राण और शरीर इन्हीं तीनोंके

ऊपरी भागमें—भीतर तो समता ही स्थिर रहती है। इस अवस्थामें बाहरी लोगोंके समीप सम्भवतः बहुतसे दोष-गुण और गुरु-लघुत्वकी क्रीड़ा दृष्टिगोचर हो सकती है—किन्तु भीतरका पुरुष विशेष गुणातीत और शान्ति-मग्न अवस्थामें ही रहता है। यह अवस्था भी बहुत ही ऊँची अवस्था है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु मैं तो इस अवस्थाको भी कच्ची (imperfect) अवस्था ही मानता हूँ; सिद्ध या पक्की (perfect) अवस्था हो जानेपर गुणोंका भी परिवर्त्तन हो जाना चाहिये। किन्तु यह मनकी तहमें नहीं हो सकता, विज्ञानमें प्रवेश करने-पर होता है। साधारण भक्तियोग इस आत्म-प्रत्यादेश-(psycho-spiritual) की तहमें ही रहता है। किन्तु इसको भी लाँघकर आगे जाना पड़ेगा। विज्ञानके प्रारम्भ हुए विना भगवानकी असली प्रकृतिके सच्चे नारायणी स्वभाव-(real divine nature) का परिचय नहीं पाया जा सकता। गीतामें इसीको पराप्रकृति कहा गया है—किन्तु मात्रा संज्ञा निर्देश करके ही गीताकारने रख दिया है। ययेदं धार्यते जगत्। यही ऊर्द्ध्व प्रकृतिके स्वभाव—(supramental nature) में दिव्य गुण है। इस युगके मनुष्योंको इसी दिव्य भागवत स्वभावका आविष्कार और ग्रहण करना होगा।

हमारा योग—अर्थात् पूरे आत्मसमर्पण योगकी प्रथा यही है कि, हम स्वयं किसी साध्य की साधना नहीं करते बल्कि सब नारायणी शक्ति (divine shakti) स्वयं ही करती है। उन्हींके

हाथमें सम्पूर्ण साधनाका भार समर्पण करके स्थिर रहना चाहिये। भगवान अपने आप ही साधना करते हैं। वह दिव्य शक्ति ऊपरका केन्द्र स्वयंही खोल देते हैं। ऊपरसे सब कुछ वही देना आरम्भ करते है। अपनेसे ही सब कुछ किया जाता है, किन्तु अपनेको वैज्ञानिक (supermental) तहतक पहुँचाया नहीं जा सकता, यह असम्भव है। विज्ञान-(supermind) से स्वतः उतरकर उठाये बिना उसका उठना बिलकुल ही असम्भव है। आत्म-समर्पण किये हुए योगीके आधारसे भगवान (spirit), विज्ञान-(super-mind) के द्वारा नवीन ज्योतिकी अवस्थासे मुक्तकर देते हैं। उस समय प्रकृतिके सारे गुणोंका असली स्वरूप प्रकट हो जाता है। सत्त्व होता है— स्वच्छ और उज्वल दिव्य ज्योतिसे। सत्त्वकी प्रधानतामें ज्योति मण्डलके बीच समस्तज्ञान, चिन्ता, अनुभव और इंद्रियांतक प्रत्यक्ष सम्पन्न यानी साधित होजाती हैं। रज होता है—दिव्य-तप अव्यर्थ, सिद्ध और आज्ञा-सूचक सम्भावनाओंके समूह और वास्तविक घटनाओंके नियमित करके चलने तथा अभ्रान्त सिद्धभावसे ही सब कुछ करनेसे। उस दिव्य तपका कामही क्रीड़ा है। तमका भी उसीमें रूपान्तर है। तम* होता है—शम अर्थात् विपुल समरस, शान्त, और गम्भीर आनन्दकी गोदमें सदा डूबा रहनेसे। उसी

---

* यहाँपर सत्त्व, रज और तमकी परिभाषा योगसे सम्बन्ध रखनेवाली है। इसका विचारपूर्वक मनन करना चाहिये।

विराट् शान्तिकी गोदमें ही सब ज्योतिर्मय ज्ञान और अनवद्य कर्म-पुंजकी लीला बिना विघ्न बाधाके साधित होती है। और कहाँतक कहें, सोनातक भी उसी प्रकाशके समीप है। वह कितना शान्तिपूर्ण और सुखमय है, कहा नहीं जा सकता। मनुष्यकी भाषा और मन बड़ा ही असम्पूर्ण है—उसके द्वारा इस दिव्य-राज्यका कुछ भी वर्णन किया नहीं जा सकता। वर्णन व्यर्थ है; उसके अनिर्वचनीय अर्थका भार मनुष्यका शब्द नहीं सँभाल सकता और वाणीका उस अर्थको प्रकट करनेका साहस करना भी दुःसाहस मात्र है। इस दिव्य-राज्यमें मनुष्यको भगवान स्वयं ही पहुँचा देते हैं। केवल ठीक भाव (right attitude) और निष्कपट अभिलाषा (sincere aspiration) होनी चाहिये। मनुष्यके दोनों हाथ उठाकर पुकारनेपर, भगवान सहस्र बाहु बढ़ाकर उसे ऊपर खींच लेते हैं।

* * *

विज्ञानमें समस्त सत्य (perfect truth) है। उसे चिन्ता, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनुभव—जिससे भी हो, पुकारो या उससे प्रार्थना करो। रूपका पूर्ण सत्य भी उसी सत्य-राज्यमें है। नीचे तो उसका टूटा फूटा अंश प्रत्यंशमात्र है। मनको साफ करना चाहिये; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि, विचार भी नहीं रहने देना चाहिये। ऊर्द्ध्व प्रकृति या परा-प्रकृतिका विचार (supramentalised thought) रहना

चाहिये, दिव्य-श्रुति, दिव्य-प्रकाश (revelution) और दिव्य-स्मरणका रहना भी आवश्यक है। जिस प्रकार दिव्य युक्ति-बुद्धि रहनी चाहिये, उसी प्रकार संज्ञानका भी रहना आवश्यक है। एक छोटे पक्षीको भी ऊपरके दिव्य चक्षुसे देखनेपर वह कैसे नवीन प्रकाशमें दिखायी पड़ता है—उसके भीतर और बाहरमें जो सब सूक्ष्म और स्थूल विचित्र शक्ति-तरंगें उसपर क्रीड़ा करती हैं, वे सब सीधी दृष्टि (direct sight) लगानेसे कैसी दिखायी पड़ती हैं! हमारा सिद्धान्त एकदम परिपक्व हो गया है (it is all right)। संज्ञानकी लीलामें मनका काम अर्थात् उसका सम्भावना-समूह मिला देना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुका दिव्य स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। प्रथम, मनके उलट पलट किये हुए कामही बहुत दिनोंतक चलते रहते हैं। पश्चात् धीरे धीरे वे बिलकुल शुद्ध हो जाते हैं। उस समय सच्चा मनोमय स्वरूप प्रतिफलित होना आरम्भ कर देता है। इसके बाद ऊपर इस मनको भी उठा लेना चाहिये। सारी वृत्तियोंके समूहकी और स्वभावके अंगकी पूर्ण शुद्धि और यह रूपान्तर (transformation) ही आवश्यक है।

* * *

ऊपर उठना चाहिये, इसका माने यह नहीं है कि कोई ठीक स्थान है, उसी जगह यह सब प्रपंच छोड़कर उठ जाना होगा। इसका मतलब यह है कि हमारा वर्त्तमान स्वभाव बड़े ही बुरे

स्वभावका होगया है, इसलिये उन बुराइयोंको दूर करनेकी आवश्यकता है। वास्तवमें सभी वस्तुओंके ब्रह्मत्त्व और सत्यत्त्वको लेकर ही हम अपने वर्त्तमान स्वभावको छोड़कर उठते हैं—उस समय इसके सब अंगोंका असली स्वरूप प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि, आगे इस शारीरिक ज्ञान, इस जड़-बुद्धि और देह-चैतन्यको छोड़कर उठे बिना सूक्ष्म, सत्य अथवा अध्यात्म-सत्यका कुछ भी अनुभव नहीं किया जा सकता। जिस तरह इस जड़-शरीरके पीछे सत्य अन्नकोष है, उसी प्रकार आत्म-श्लाघा—(desire-soul) के पीछे एक विराट् आत्म-कर्म (life-soul) है एवं ऊपरी (superficial) मनके पीछे है मुख्य आध्यात्मिक मन (real psychical mind)। यूरोपनिवासी जिसे बोधातीत या अव्यक्त मन (subliminal mind) कहनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वही हमारा हिरण्यगर्भ है। इस सूक्ष्म मानसलोकका निकास या उपाय जिस मनुष्यमें जितनाही चालाक और अधिक रहता है, उसके भीतर उतनीही अधिक कवि-प्रतिभा, शिल्प-प्रतिभा प्रभृति प्रकट होती देखी जाती है। सूक्ष्म आन्तरिक आँख, कान आदि स्वतंत्र इंद्रियाँ हैं। स्वतंत्र आन्तरिक सुधार भी अधिक सम्भव है—किन्तु उसके सुधारमें भय भी रहता है। इसके-लिये निराकार आत्मा-(psycho-spiritual) का अनुशीलन ही अधिक लाभदायक है। अतएव शारीरिक (physical) आध्यात्मिक (psychical) निराकार आत्मा या अलौकिक

अध्यात्म विषयका (psycho-spiritual) भाव और साधना—इस सबका स्वरूप-सत्य अनुभव करते जानेसे मनसे परे स्वभाव या पराप्रकृतिके स्वभाव-(supremental nature) से ही उठना पड़ेगा।

* * * *

संज्ञान—भगवान जो कुछ आँख और कानसे देखते तथा सुनते हैं—श्रोत्रस्य श्रोत्रं चक्षुषः चक्षु प्रभृतिको संज्ञान कहते हैं। भगवान पहले वस्तुके असली स्वरूप और कारणको देखते हैं; इसके बाद अनेक तरहकी कल्पनाओं और सम्भावनाओंके रंगकी लीला देखते और अन्तमें वस्तुतंत्र स्थूल कार्य—आवश्यकीय अध्यात्म सत्य, होने योग्य एवं सम्भावित आध्यात्मिक सत्य, तथा सबके अन्तमें स्थूल साकार शारीरिक सत्य देखते हैं। किन्तु हमलोग इन्हीं सबको उल्टी रीतिसे देखते हैं। हमलोग पहले स्थूल पदार्थ देखते हैं, फिर इसके बाद सूक्ष्म सम्भावना और अन्तमें ताक लगाते हैं अध्यात्म-कारणपर। यही कारण है कि, पूर्ण सत्यके दर्शनमें हमारे सामने इतनी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। भागवत दृष्टि प्राप्त हो जानेपर हम यथार्थ सत्य देख सकेंगे। उस यथार्थ सत्यमें उसकी सब सम्भावनाओं, कल्पनाओं और यथार्थ सत्यका प्रकाश भी है। G d said—Let there be light and there was light—अर्थात् ईश्वरने कहा कि, दिन हो जाय, दिन हो गया—'भाव' और 'होना' दोनों ही उस जगह पादद्वय हो जाते हैं; अभिप्राय यह कि, ईश्वरेच्छा-

से कार्य हो जाता है,—कारणमें, दृष्टि और सृष्टि, पूर्ण और अविच्छिन्न लीला प्रतीत होती है।

* * * *

भागवत आनन्द भी इसी प्रकार है। भगवानका जिसमें आनन्द होता है, वही होताहै—और उसका धीरे धीरे होना अनिवार्य है। हमलोग सुख-दुःख द्वन्द्वका अनुभव करते हैं। किन्तु वास्तवमें दोनों ही आनन्दके प्रकारान्तर हैं। हम सहन करनेकी शक्तिको नष्ट करके इन्द्रिय ज्ञानसे दुःख ही पाते हैं। किन्तु यह दुःख सनातन या पुराना नहीं है। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि कठिनसे कठिन दुःख भी अनायास ही आनन्दमें परिणत हो गया है। इसका कारण यही है कि, दुःख (pain) भी आनन्द ही है। क्योंकि निश्चित की हुई चरम-मात्रा लाँघ जानेपर उसके भीतरका आनन्द ही मिलकर बाहर प्रकट हो जाता है। भगवान सब पदार्थोंका भोग करते हैं। वेदमें विज्ञान-सूर्यके (supermind) चार देवता रूप—वरुण, मित्र, अर्यमा (सूर्य) और भग हैं। भग अर्थात् भोगस्वरूप और भगवान भोगमय हैं। शोक (grief) और दुःख-(pain) में भी आनन्द है। स्थूल शरीरके भीतर रहनेवाला एक......ऐसा है, जो समस्त द्वन्द्व रसके आनन्दका स्वाद लेता है। इसलिये इस दुःखके आनन्दका असली प्रसव-मुख खोल देना चाहिये। ऐसा करनेके बाद पूर्ण दिव्य भोग उत्सरित होने लग जायगा।

* * * *

भारतकी साधनाकी एक सुन्दर क्रम-धारा देखी जा रही है। पहले वैदिक युग था; उस समय ऋषि लोग आध्यात्मिक (psychical) और अलौकिक (spiritual) अनुभव योग-द्वारा ऊपरी विज्ञान-सत्यमें प्रवेश करते थे। वह युग बड़ा ही महत्वपूर्ण था। उस समय लोग देवलोकमें जाते थे—देवताओंको जीवन दान देते थे—देवासुरकी संग्राम-भूमिमें जाकर उन लोगोंने देवताओंको जय प्राप्त करायी थी। उस समयके लोग आन्तरिक अनुभवी थे। पश्चात् लोग वेद-ज्ञानसे हाथ धो बैठे। ब्राह्मण लोग सब कुछ छोड़कर उपकथाओंमें भिड़ गये। जान पड़ता है कि, उस समय मनुष्योंको असली सत्यका स्वरूप ही भूल गया। उपनिषद् कालमें फिर लोगोंने एक बार सत्यकी खोज की थी। अबकी बार वह खोज लोगोंने आध्यात्मिक अनुभवद्वारा नहीं बल्कि अन्तर ज्ञानके अनुभवद्वारा की थी। वैदिक कालके लोग जिस प्रकार ऊपर उठे, उपनिषद् कालके लोग जान पड़ता है कि, उसी प्रकार ऊपरसे नीचे खिसके। इसीसे उपनिषद्का सत्य बड़ा ही उदार और महान है। उस सत्यका सुस्पष्ट ज्ञान-भाव है, किन्तु वेदके सत्यके समान सच्चा नहीं। फिर भी उपनिषद्का युग एक बड़ा ही महत्वपूर्ण और विराट् अध्यात्म युग था। उपनिषद्के ऋषिलोग तर्क नहीं जानते थे। वे दृष्टि जानते थे,—कौन किस विचार तर्कमें या सिद्धान्तमें पहुँचा है, सो नहीं बल्कि यह कि, किसने क्या देखा है। इसी भावसे ऋषिलोग

परस्परमें एक दूसरेसे अनुभव मिलाते थे। वे छोटेसे छोटे अनुभवका बड़ेसे बड़े अनुभवके प्रकाशसे संशोधन करते थे और सत्यतापूर्वक सत्यकी ओर अग्रसर होते थे।

इसी प्रकारसे फिर एकबार उनलोगोंने परम सत्यका आविष्कार किया था। इसके बाद फिर नीचे आकर मनुष्योंने उत्पन्न किया दर्शन—बुद्धि विषयक और आत्मविद्यानुसार (intellectual and metaphysical)—विचार सिद्धान्त। किन्तु भारतके दर्शनोंकी एक यही विचित्रता है कि, ये यूरोपके दर्शनोंके समान केवल बुद्धिके व्यवसाय ही नहीं हैं। इनमें प्रत्येकके पीछे अनुभव लगा हुआ है। किन्तु वह खंड और सामान्य अनुभव है, परवर्त्ती युगमें लोग आध्यात्मिक अनुभव समूहकी सौगुनी प्रति-क्रियामें फिरकर वापस आ गये। तन्त्र, आध्यात्मिक अनुभवका समूहमात्र है। पुराणमें भी इसी प्रकारकी घटना है। बौद्ध और वैष्णव सम्प्रदायके उदयमें भी हृदय और मनको आत्मज्ञानी बनानेका विपुल प्रयास किया गया था।

ऊपर जिन युगोंकी चर्चा की गयी है, उन सब युगोंमें दो दोषोंका समावेश देखनेमें आता है। पहला, इतने मनुष्योंके नीचेके आधारोंका एक एक संशोधन होता आया है, किन्तु संसार-त्याग और मोक्षवादका लक्ष्य करके। फलतः जीवनके रूपान्तर-(transfiguration) की ओर विशेष मनोनिवेश नहीं हुआ। मोक्ष-मार्गियोंके ऐसा कहनेसे काम नहीं चल सकता कि, मुट्ठीभर मुमुक्षुओंके त्यागसे समाज क्या क्षतिग्रस्त

होकर गिर रहा है? उनकी यह धारणा कदापि ठीक नहीं। कारण यह है कि, समाजके अग्रगण्य श्रेष्ठ पुरुषोंकी उदासीनतासे समाज प्रतिभा-हीन होकर अधोगामी अवश्य ही हो जायगा। इसके अतिरिक्त यह एक बात और भी भयानक है कि, मोक्षवाद मनुष्योंके हीन भोगोंसे उनकी कौनसी रक्षा कर सका है? न तो मोक्षवाद रक्षा कर ही सका है और न कर ही सकता है। मोक्षका सिद्धान्त गुरुभारके समान मनुष्यका कंधा दबाकर उसके उदार और विशालसे भी विशाल भोगोंकी ईषणाओंको* इकट्ठा करके शेष कर देता है। यही पहला दोष है। दूसरा दोष यह है कि, वह मनुष्यके समूचे जीवनको लेकर अन्तिम परीक्षा करनेका साहस नहीं करता। वह समाजके साथ घृणा करके चलना चाहता है। इस नवीन युगमें हमें करना होगा—इन दोनों संकटोंको ठुकराकर एक पूर्ण अनुभव-(integral experience) की सहायतासे पराप्रकृतिकका पूर्णरीतिसे रूपान्तर (whole-sale supramental trasfiguration)। हम जब कभी भी नीचे झुँककर या आकर नीचेकी बुद्धि-दृष्टिसे इस महाव्रतकी बात देखनेकी चेष्टा करते हैं, तभी यह सत्य ही असाध्यवत प्रतीत होता है—मनुष्यकी इस ऊर्द्ध्व प्रकृति-(supramental) में उत्तोलन करनेका स्वरूप ही असाध्य व्रतका भार है। सारांश यह है

---

* ईषणा तीन हैं—लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा।

कि, मनुष्यके भीतर जन्म लेनेके लिये इस युगमें पराप्रकृति (supramental) ही प्रेरणाकर रही है। अपनेको ऊपर-(lifled) से ऊपर चढ़ानेके लिये ही मनुष्यको शुद्धभावसे अभिलाषा (sincerely aspire) करनी होगी। मनुष्य इस समय भी मनमें ही है—हमलोगोंमें कोई भी अभीतक एकदम ऊपर नहीं पहुँच सका है। अतएव मनकी लीला छोड़कर उसे विज्ञानमें आरोहण करनेके लिये ही हम उसका आह्वान कर रहे हैं। विज्ञानका राज्य धीरे धीरे जितना ही विस्तृत हो, उतना ही अच्छा और मङ्गलदायक है, इसे अच्छी तरह स्मरण रक्खो।

८

बंगाल प्रदेश स्वभावतः ही धर्म-प्राण एवं कर्म-प्रवण है। इस प्रदेशमें बहुतसे लोग ऐसे पाये जाते हैं, जो धर्मके पीछे पागल और कर्म करनेमें भी पूर्ण प्रवीण तथा तत्पर हैं; किन्तु सब कामोंको अच्छी तरह सोच समझकर तथा विचार करके करना बंगालका स्वभाव नहीं है। यहाँपर हम साधारण श्रेणी-के लोगोंके सम्बन्धमें कह रहे हैं, उन थोड़ेसे अल्प-संख्यक मनुष्योंकी बात जुदी है, जो अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे पश्चिमीय तर्क एवं दर्शनशास्त्र पढ़े हुए हैं। बंगालके जो साधारण लोग हैं, उनमें एक ओर जिस प्रकार धर्म-प्रवाह बहता हुआ दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार दूसरी ओर भक्तिके भरोसे लोग अपनेको रखते हुए एवं कर्ममें भी मस्त हुए दिखलायी पड़ते हैं। चैतन्यके युगसे ही हम बंगालमें इसी प्रकारकी भक्तिका प्राबल्य देखते आ रहे हैं। पूर्ण विश्वास एवं भक्तिद्वारा मनुष्य बहुत बड़े बड़े काम कर सकता है। एक व्यक्तिको पीछे रखकर उसपर निर्भर रहकर मनुष्य उस स्थलपर किसी प्रकारकी भावना न करके काम करता जा रहा है, क्योंकि उस व्यक्तिपर कर्मकी असाधारण भक्ति है—किसी दिन भी वह यह नहीं सोचता कि, जो कर्म किया जा रहा है, इसका परिणाम क्या होगा एवं इसकी सुदूर-प्रसारित सार्थकता क्या होगी और क्या

नहीं। निर्भरता, बहुत ही श्रेष्ठ उपाय है, इसमें कोई संदेह नहीं; किन्तु इससे मनुष्य कितना आगे बढ़ सकता है, यह विचारनेकी बात है। और फिर निर्भरतासे कर्म ही कितने दिनोंतक किया जा सकता है? ऐसी दशामें इस प्रकारकी भी अवस्था आ सकती है, जबकि वह पछाड़ खाकर गिर जायगा। इसका कारण यह है कि, इस प्रकारके क्षेत्रमें अधिकांश मनुष्योंकी भक्ति तामसिक होती है। इस तामसिक भक्तिको लेकर मनुष्य बहुत दिनोंतक अपने कर्मपर दृढ़ नहीं रह सकता; जिस दिन उसकी भक्तिका प्राबल्य कम हो जायगा, उस दिन जो काम वह पूर्ण-उत्साह और सहायतासे करता हुआ आगे बढ़ता रहेगा, उस काममें बिलकुल शिथिलता आ जायगी और धीरे धीरे वह काम एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।

* * * *

कर्म करनेके लिये एक मार्ग और भी है, वह है कर्म न करके चुप न रह सकना। इस तरहके बहुतसे लोग हैं, जो जैसा तैसा कर्म पाकर ही उसे लेकर मस्त रहते हैं। बंगालमें इस समय कर्मियोंका जो दल देखा जा रहा है, उस दलमें अधिकांश व्यक्ति इसी श्रेणीके हैं। बहुतसे लड़के स्कूल छोड़कर बाहर होते हैं। बाहर आनेपर उन्हें कुछ न कुछ काम तो करना ही चाहिये; किन्तु क्या करना चाहिये, इसका हृदयसे कुछ निश्चय न करते हुए भी जो कुछ सामने आ जाता है, उसीके करनेमें लड़के भिड़ जाते हैं। कुछ लड़के तो गाँव गाँवमें

"प्रोपगंडा" का काम करने लग जाते हैं, कुछ लड़के बड़े उत्साहके साथ ग्राम्य-सेवा-समिति गठन करनेमें तन्मय हो जाते हैं, कितने ही लड़के दुर्भिक्ष प्रपीड़ित भोजन-विहीन ग्राम-वासियोंके लिये तथा आसाम आदि प्रदेशोंके कुलियोंके लिये द्वार-द्वारपर भिक्षाकी टोकरी लेकर माँगते फिरते हैं और उस भिक्षासे दरिद्र निःसहायोंको सहायता पहुँचानेमें लग जाते हैं; कुछ लड़के किसी प्रान्तके लोगोंको धर्म-संकटमें पड़ा देखकर उनके धर्मकी रक्षा करनेके लिये हड़तालका झण्डा लेकर आन्दोलन करनेमें ही लग जाते हैं। हम मानते हैं कि, जिस समय जातिपर घोर संकट आ पड़े, उस समय अनेक तरहके क्षेत्रोंमें अनेक तरहके कार्यकर्त्ताओंके दलोंकी आवश्यकता होती है—हम यह भी कदापि नहीं कहते कि, हमारे देशके नवयुवकोंके उक्त कार्य ठीक नहीं हैं। उक्त सभी दलोंके युवक मरणोन्मुख जातिके हृदयमें जो इस समय जीवनी-शक्तिका संचार कर रहे हैं, वह पूर्ण समयोपयोगी और शतमुख सराहनीय है; इन कामोंसे जातिमें अच्छी जागृति पैदा हो रही है, इसमें भी किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। किन्तु हमें दुःख केवल इसी बातका है कि, उक्त दलोंके कार्यकर्त्ताओंको यह नहीं मालूम है कि, ये सब काम जो किये जा रहे हैं, वे किसके लिये किये जा रहे हैं, और इन कामोंसे जातीय जीवनमें कौनसी सार्थकता आवेगी—कौनसी बात पैदा होगी—इसका सम्यक ज्ञान किसीको भी नहीं है। जो लोग इस प्रकारके कर्म-प्रवाहमें दृढ़तापूर्वक आगे

बढ़ते जा रहे हैं, उनमें बहुतोंके हृदयोंमें पवित्र स्वदेश प्रेम या कोई महान् कर्म-प्रेरणा प्रकटित हुई है अवश्य, किन्तु न जानें क्यों उनके इस निःस्वार्थ कर्म तथा आन्तरिक परिश्रमने अभी-तक अच्छा फल पैदा नहीं किया। इससे मालूम होता है कि, उनके परिश्रममें सम्भवतः कुछ कमी अवश्य है, जिसके कारण उनके सब काम घीमें आहुतिके समान भस्म होकर व्यर्थ होते जा रहे है अथवा अत्यन्त अल्प-सिद्धि दे रहे हैं। कई वर्षोंतक कर्मतरंगमें रहकर हमने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि, कार्य करनेके लिये कर्म लेकर मस्त रहनेसे विशेष कोई फल प्राप्त नहीं होगा—बल्कि इससे तो व्यर्थ ही शक्तिका नाश भर होगा।

* * * *

कार्य करना भी एक साधना है। अपने जीवनमें हम जो कुछ कर रहे हैं, वह सब भगवानके लिये ही कर रहे हैं, बस ऐसा ज्ञान रखकर या ऐसा समझकर ही कर्म करना चाहिये। कुछ न कुछ करना ही चाहिये, ऐसा समझकर जो कुछ सामने आवे उसीमें लग जाय, यह कोई उचित बात नहीं है। हमें कर्म करना चाहिये, किन्तु अपनी अन्तरात्माकी पूर्ण आज्ञासे, योंही नहीं। भीतरसे हमें जिस कामके करनेके लिये जैसी प्रेरणा हो, उसीके अनुसार कर्म करनेके लिये हमें तत्पर होना चाहिये। अब यहाँपर यह समस्या उपस्थित होती है कि, सामने जो बहुतसे काम उपस्थित हैं, उनमें कौनसा काम हमें

करना चाहिये; कौनसा कर्म हमारा निर्दिष्ट कर्म है, इसीको निश्चय करनेकी आवश्यकता है। मनुष्यका स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि, वह गम्भीर विचारपूर्वक किसी विषयमें जल्द प्रवेश करना नहीं चाहता। वास्तवमें यह काम होता भी उसके लिये कई अंशोंमें असाध्य है। कर्मकी भलाई और बुराई-का विचार करना उन कार्यकर्त्ताओंके लिये सम्भव भी नहीं है। प्रायः कार्यकर्त्ता समूहके सभी व्यक्ति किसी बड़े प्रभावशाली नेताके ऊपर निर्भर करके निश्चिन्त बैठे हैं। इस कामसे उन कार्य-कर्त्ताओंमें देवत्वके विकाशकी बात तो दूर रही, मनुष्यत्वका भी पूर्ण विकाश, जैसा कि होना चाहिये—नहीं हो रहा है।

अज्ञान-धाराकी कर्म-तरंगमें अपनेको प्रवृत्त कर देना ही मनुष्यका साधारण स्वभाव है। जबतक मनुष्यका यह स्वभाव आशासे परिपूर्ण रहता है, उसके सामने कोई रुकावट नहीं पड़ती, तबतक वह अच्छी तरह अपने जीवनके सुखके लिये अनेक तरहके काम करता है; किन्तु जिस समय उसकी इस गतिके सामने कार्यका कोई प्रतिघातक खड़ा हो जाता है, उसी समय और उसी जगह उस मनुष्यका कर्मोत्साह भंग हो जाता है। ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि, इस तरहकी बहुतसी घटनाएँ हैं जिनमें मनुष्य अपने जीवनकी चरितार्थता एवं आत्म-प्रसाद-लाभके लिये ही काम करता है। ऐसे मनुष्योंके कर्म करनेमें न तो ऊपरकी प्रेरणा ही होती है और न उनमें ऊपरी प्रेरणाकी खोज करनेके योग्य सामर्थ्य ही होता है। इसीसे

युवक-मण्डली स्वयं कुछ चिन्तन न करके देशके प्रमुख नेताओं-के ऊपर चिन्ताका भार छोड़कर कर्म करनेमें उद्यत है। यही कारण है कि, कर्मका जो आत्मप्रसाद है, वह युवक-सम्प्रदायको प्राप्त नहीं हो रहा है, क्योंकि उसके कर्म तो ऐसी दशामें जीवनको कर्मकी राय देनेवालेके अतिरिक्त और कुछ हैं ही नहीं। फलतः, कुछ दिनतक इस प्रकार कर्म करनेके बाद जिस समय उत्साही युवक-मण्डली यह देखती है कि, जीवनकी ऊँची अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं हो रही हैं, मनको शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो रही है, यहाँतक कि बुद्धिको भी पूरा सन्तोष नहीं हो रहा है, उस समय वह निराश होकर खिन्न हृदयसे अपने जीवनका सारा सामर्थ्य, बल, पौरुष व्यय करके तथा सारे उत्साहोंको नष्ट करके विमुख हो जाती है। इस अवस्थामें युवकोंको अपने जीवनका भविष्यमार्ग भी बन्द दिखायी पड़ता है। उन्हें यही प्रतीत होता है कि, कोई उपाय नहीं, अवलम्बन नहीं, शक्ति नहीं, सामर्थ्य नहीं—भगवत् साधनामें जीवनको पुष्ट किये बिना आगे बढ़ना तथा जीवनकी जो कुछ भी वासनाएँ और कामनाएँ हैं, उन सबको भगवानके चरणोंपर उत्सर्ग स्वरूप प्रदान किये बिना, व्यर्थ ही इस प्रकार शून्यमें हा-हा करके चक्कर लगाना पड़ेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

* * * *

हम ऊपरमें दो तरहके कामोंकी चर्चा कर चुके हैं; एक तो भक्तिके आश्रित कर्म करना, और एक शक्तिके आश्रित कर्म

करना। किन्तु दोनोंमें ही त्रुटियाँ हैं, दोनोंमें वियोग है—गिरनेका भय है; ज्ञान न रहनेसे कोई भी कर्म पूर्ण नहीं हो सकता। देशमें कार्यकर्त्ताओंका तो अभाव नहीं है, असंख्य मनुष्य कार्य करनेके लिये उन्मत्त होकर नेताओंकी आज्ञाके अनुसार देशके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें दौड़ रहे हैं। किन्तु इतना कार्य करनेसे ही कर्मकी इति नहीं हो सकती। आधुनिक समयके कार्योंका ऊपरी पर्दा देखनेसे तो अवश्य ही यह जान पड़ेगा कि, काम खूब जोरोंसे हो रहा है, किन्तु इसमें भविष्य-की ओर भी तो दृष्टि रखकर कर्म करना होगा न। बस इसी जगह दृष्टि डालनेसे नेताओंमें विचक्षणताका अभाव दिखायी पड़ता है। इसका कारण यह है कि, वे योगी पुरुष नहीं हैं। एक शक्तिको केन्द्र मानकर बहुतसे काम किये जा सकते हैं, भक्तिके आश्रित रहकर भी बहुत कुछ किया जा सकता है, किन्तु इससे क्या होगा?

आधुनिक, समयका सबसे बड़ा काम यही है कि, वह कुछ पूर्ण योगी मनुष्योंको पैदा करे। इस समय संसारका भविष्य भारतवर्षके उन्हीं पूर्ण योगियोंपर ही निर्भर है। यद्यपि यहाँ काम करनेवाले मनुष्य हैं बहुतसे, किन्तु भारतके भविष्यके कामके लिये पूर्ण-योगी पुरुषोंकी आवश्यकता है। क्योंकि संसारके जिस विराट कार्यका भार भारतपर पड़नेवाला है, उसका भार पूर्ण योगी पुरुषोंके बिना, साधारण बुद्धि-जीवी या हृदय-जीवी मनुष्य—चाहे वे कितने ही बड़े नेता अथवा

कार्यकर्त्ता क्यों न हों—नहीं सँभाल सकेंगे, और न उनका सँभालना किसी प्रकार सम्भव ही है।

* * * *

भविष्यमें भारतको जिस विपुल विराट् कर्मका भार अपने ऊपर लेकर खड़ा होना पड़ेगा, उसीकी सूचना स्वरूप सारे संसारमें एक विचित्र प्रकाशका होना आरम्भ हो गया है। आगामी ३०-४० (तीस, चालीस) वर्षके भीतर संसारमें एक विचित्र परिवर्त्तन होगा, सारी बातोंमें ही उलट पलट हो जायगा; उसके बाद जो नवीन जगत् तैयार होगा, उसमें भारतकी सभ्यता ही संसारकी सभ्यता होगी। भावी-भारतका काम, केवल भारतके लिये नहीं है, बल्कि समूचे संसारके लिये है। अतएव अब भारतको उन्हीं पूर्ण-योगी मनुष्योंकी तैयारी करनेमें लग जाना चाहिये, जो इतने गुरुतर भारका सम्भार करनेमें समर्थ होंगे। यह काम नीरव मातृ साधनामें ही प्रारम्भ भी हो गया है। योगियोंके लिये सब कुछ सम्भव है। शिक्षा, समाज, राजनीति, शिल्प और वाणिज्य आदि सभी क्षेत्रोंमें योगियोंकी अपूर्व प्रतिभा, विचित्र सृष्टि तैयार कर सकती है, यह निश्चय है।

इस समय योगियोंद्वारा ही संसारमें एक विचित्र नवीन परिवर्त्तन भगवान करना चाहते हैं। योगके प्रकाश-स्वरूप परिपूर्ण कार्यके ऊपर ही संसारकी भविष्य सृष्टि निर्भर करती है—वह कार्य बड़ा विस्तृत है। पूर्ण योगी पुरुषोंद्वारा जो

कर्म तैयार होगा, वही भावी-जगत्‌का सच्चा काम होगा। पूर्ण योगियोंको पैदा किये बिना, कभी भी कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। अभीतक भक्ति एवं शक्तिको लेकर बहुतसे काम हुए हैं, किन्तु पूर्ण ज्ञानका अभाव होनेके कारण उनमें कोई भी काम स्थायी नहीं हुआ। भक्ति एवं शक्तिद्वारा संसारमें जितने कार्य हुए हैं, वे भगवानके कार्योंके मामूली क्षुद्र अंश हैं। उनसे बहुत कुछ तैयार भी हो गया था, किन्तु वह पूर्ण ज्ञानका अभाव होनेके कारण अब बिलकुल नष्ट हो गया है। इस समय प्रयोजन है अध्यात्मज्ञानका, प्रगाढ़ प्रेम एवं असाधारण शक्तिका, क्योंकि इनके बिना कर्मकी परिपूर्णता नहीं होगी। कर्मकी पूर्णता इन्हींके द्वारा ही होगी। ज्ञान पूर्ण होनेपर ही कर्म-पूर्ण मूर्त्ति प्राप्त होगी। आज उसीका साधन भी चल रहा है। ऐ भारतवासियो! ज्ञानमें आरूढ़ हो जाओ, और उसीके सहारे नीरव साधनामें चित्त लगाकर काम करते जाओ, बाहरी उत्तेजनामें न फँसो, भीतरमें भगवानकी दिव्य मूर्त्ति प्रकट होने दो। स्मरण रक्खो कि, तुम्हारी साधना-से जो नयी चीज़ पैदा होगी, वह संसारभरकी एक अपूर्व सम्पत्ति होगी।

१

जिस जगह आत्माका सम्मिलन सार्थक होता है, जिस जगह बहुतोंमें एककी प्राप्ति होती है, उसी जगह संघकी सृष्टि है—संघ और कोई दूसरी वस्तु नहीं। व्यष्टि या समष्टिका* अहंकार होनेसे यह संघ तैयार हो जानेपर भी नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्थामें उसका पतन अनिवार्य है—समयकी कसौटीपर सत्य और मिथ्याकी परख हो जाया करती है। अतः मनुष्योंको अब सत्यपर डट जाना चाहिये।

* * * *

सत्य किसी निर्दिष्ट स्थान अथवा समयपर मनुष्यके भीतर आनेके लिये बँधा हुआ नहीं है। सत्यका तो जो लोग आह्वान करते हैं अथवा जो लोग उसे ढूँढ़ते हैं, वे ही उस रत्नको पाते हैं। जहाँ सत्यकी सामान्य छाया पाकर ही लोग संघ पैदा करनेकी चेष्टा करते हैं, वहाँ संघ स्थापित नहीं होता; ऐसी दशामें तो वह एक दल या सम्प्रदाय ही हो सकता है। इस प्रकारके दल और सम्प्रदाय संसारके बहुतसे बड़े बड़े

---

* व्यष्टि और समष्टि—मान लीजिये कि एक बागमें बहुतसे वृक्ष हैं। अब उन वृक्षोंमें प्रत्येकको व्यष्टि कह सकते हैं, और सब वृक्षोंको समष्टि। सारांश यह है कि एकको व्यष्टि और सबको समष्टि कहते हैं।

काम करते आ सकते हैं, किन्तु पूर्ण सत्य प्राप्त हुए बिना वे बहुत दिनोंतक टिकते नहीं। संघ सृष्टिका स्वप्न जिस समय सत्य होकर प्रकट होता है, उस समय यदि लोग उदार भावसे उसका आलिङ्गन करनेमें समर्थ होते हैं, तो सामयिक सफलता प्राप्त हो जानेपर भी, वह सफलता चिरस्थायी नहीं होती।

* * * *

संघ—आत्माको विस्तृत करके बहुत्वको प्राप्त करानेका एक क्षेत्र-विशेष है। जो लोग संघ करेंगे, उन्हें योगके मार्गमें चलना पड़ेगा। क्योंकि योग ही संघका प्रधान स्तम्भ है। इस योगकी दो अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है, समूचे जीवनको योग रूपसे प्राप्त करना। इसमें कर्मके साथ जीवनका एवं जीवनके साथ कर्मका सामञ्जस्य करके इनका साधन करना चाहिये। ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनोंका सामञ्जस्य करना ही योग है। इस साधनाके भीतर जीवन और कर्म पैदा करके आगे बढ़ना चाहिये; किन्तु यह काम बहुत सरल नहीं है, क्योंकि इस क्षेत्रमें विपत्तियाँ भी यथेष्ट हैं; हाँ यह बात अवश्य है कि, यह मार्ग अन्यान्य मार्गोंकी अपेक्षा कम कठिन है।

इस अवस्थामें मनको लाँघकर आगे बढ़े बिना, इसी अवस्थामें रह जाना पड़ता है। मनके गृहमें रहनेसे सारी क्रीड़ाएँ चित्तकी वृत्तिमें हो सकती हैं, भीतरी ज्ञान या अनुभवकी छाया रह सकती है, किन्तु बस यही तुरीय जीवनकी क्रीड़ा नहीं है-अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था यही नहीं है—सफलता

प्राप्त होनेपर ऐसा जान पड़ता है कि, अन्तिम सिद्धि प्राप्त हो गयी है, विज्ञान प्रस्फुटित हो गया है, किन्तु ऐसा समझ-कर चुप रह जाना बहुत बड़ी भूल है। प्रधान विपत्तिका समय तो यही है। साधक लोग इसी अवस्थाको छोड़कर ऊपर नहीं उठने पाते, एवं संघ भी इसी अवस्थामें चूर्ण विचूर्ण हो जाता है। अतः इस जगह शान्तिके साथ अपनेको विपत्तियोंसे बचाना चाहिये।

* * * *

दूसरी अवस्था विज्ञानकी अवस्था है। मनको लाँघ सकनेसे ही विज्ञानमें पहुँच हो जाती है, इस प्रकार समझ बैठना ठीक नहीं। ऐसे बहुतसे साधक हुए हैं, जो मनको लाँघकर आगे फिर एक कदम भी नहीं बढ़ सके हैं। बस उसी जगह उनकी साधना समाप्त हो गयी है। एक बात और है, वह यह कि, पहली अवस्थामें मनुष्य उत्थान और पतनमें होकर धीरे धीरे आगे बढ़ सकता है अर्थात् पहली अवस्थाके साधकोंका यदि पतन भी हो जाता है, तब भी उनका धीरे धीरे उत्थान हो जाता है और इस प्रकार वे आगे बढ़ते जाते हैं; किन्तु जो लोग दूसरी अवस्थामें प्रवेश करते हैं, वे यदि उस अवस्थामें एकबार गिर जाते हैं अथवा उनका पतन हो जाता है, तो फिर उनके उठनेकी सम्भावना नहीं रह जाती—उनका ध्वंस अनिवार्य हो जाता है।

* * * *

मनको लाँघकर विज्ञान लोकमें जानेका जो मार्ग है, उस मार्गमें विघ्न बहुतसे दिखायी पड़ते हैं। प्राण, मन, चित्त, देह इन सबके भीतर जो नीच वृत्तियाँ हैं, वे एक साथ ही तो नष्ट होतीं नहीं—अतः अवसर पाते ही वे निकृष्ट वृत्तियाँ साधकों-पर आक्रमण कर बैठती हैं। मनको लाँघकर जानेके समय ही इनके प्रबल आक्रमण साधकोंको विचलित करनेपर उतारू होते हैं। एक ओर तो अशुद्ध प्राण-शक्तिकी खींचातानी, और दूसरी ओर शरीर भोगकी नीच लीला—इसी भयंकर अवस्था-में मनुष्य व्याकुल हो जाता है, यहाँतक कि बहुतसे साधकों-का आत्म-चैतन्य भी लुप्त हो जाता है और वे इनके वशीभूत हो जाते हैं। कर्मकी साधना बहुत ही कठिन है—सबसे अधिक कठिन है। इस अवस्थामें आकर शारीरिक सफलताका लक्ष्य करके साधक यदि योगकी मूल बातको शिथिल होकर छोड़ देते हैं, तो उनके योग-भ्रष्ट हो जानेकी बहुत बड़ी सम्भावना रहती है।

*　　*　　*　　*

कर्म है भोगकी साधना। केवल शरीरगत एवं निम्नावस्थाका जो भोग है, सो नहीं। कर्ममें कर्मकी सफलताका जो एक भोग रहता है, मनुष्य उससे आत्म-विस्मृत होकर असली वस्तु भूल जाता है। इस अवस्थामें साधक शारीरिक जीवन–(physical being) के समीप दासत्व स्वीकार कर लेता है। उसी समय उसकी भोग-वासनाएँ भी प्रकट हो जाती हैं। बाहरकी

यह सफलताकी इच्छा भी भोगवासनाका रूपान्तर मात्र है। भोगकी वासना रहेगी ही नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। किन्तु भोगके भीतर जो एक घृणित खिंचाव है, उसी घृणित खिंचाव-के सम्बन्धमें हम कह रहे हैं। मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा है कि, वह बाहरी सफलता देखकर ही ज्ञान-शून्य हो जाता है— ऐसी अवस्थामें साधकोंको अच्छी तरह सावधान रहना चाहिये।

*   *   *   *

कर्मकी सफलताही कोई बड़ी वस्तु नहीं है। क्योंकि इस ओर झुँक जानेसे योगका उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है। योगमें विभूतिकी प्राप्ति सबसे बड़ी बाधा डालनेवाली है। बहुधा इस अवस्थामें साधक भागवत जीवन प्राप्त करनेकी आशा छोड़ सिद्धाको* ही लेकर यातो साधारण जीवन-पथमें अग्रसर हो जाते हैं, या मूत्र-बिष्ठाके समान सिद्धाका त्याग करके बहुत्व या सांसारिक मिथ्या प्रपंचकी ओर यात्रा करते हैं। भागवत जीवनकी ओर ही लक्ष्य रखकर योगकी ओर दृष्टि करके कर्म करते जाना चाहिये। वह कर्म चाहे सार्थक हो अथवा

---

* 'राज निघंट' में 'सिद्धा' का अर्थ 'ऋद्धि' लिखा है। 'जातक दीपिका' नामक ग्रन्थमें इसका 'योगिनी-विशेष' अर्थ पाया जाता है। यथा— मंगला पिंगला धन्या भ्रामरी भद्रिका तथा। उल्का सिद्धा संकटा च योगिन्योऽष्टौ प्रकीर्त्तिता। इति जातक दीपिका। अर्थ स्पष्ट है। अब इस स्थलपर योगिराजको कौनसा अर्थ अभिप्रेत है, पाठकगण विचार लें। हम निर्णय करनेमें असमर्थ हैं।

व्यर्थ, इस बातपर बिलकुल ही ध्यान न रखकर चलना चाहिये। ऐसा होनेसे बुरा कर्म होगा या बुरी गति प्राप्त होगी, यह बात नहीं है। इससे तो निश्चय ही कर्म और भी तेजीके साथ आगे बढ़ेगा।

* * *

जो लोग कर्म करते हुए योग-पथमें प्रविष्ट होते हैं, उनके कर्मकी सफलता बड़ी ही विपत्ति-जनक होती है। जो लोग दूसरी तरहसे योग-पथमें अग्रसर होते हैं, उनका पथ सीधा न होते हुए भी कुछ कम विपत्तिका है। कर्म-योगियोंका जो संघ है, उसमें सबके भीतर योगकी साधना दृढ़ होनेपर ही संघका गठन सत्य होता है। एक दो आदमियोंकी साधनाके ऊपर निर्भर करके व्यापक काममें हाथ लगानेसे, मामूली आघातसे ही उसके नष्ट हो जानेकी सम्भावना रहती है। संघमें सबलोगोंके समान भावसे योगसाधन करनेपर यदि किसी आदमीका अहंकार जाग्रत भी हो जायगा, तो संघकी कोई विशेष हानि नहीं हो सकेगी। संघके सबलोग यदि इस काममें हाथ बँटावेंगे, तो सत्य मिलन होगा। वाद्-विवाद् करनेसे ही यह न समझ लेना चाहिये कि, भीतरी सम्मिलन नहीं है, या भीतरी मिलन नष्ट हो गया। भीतरी मिलन तो सैकड़ा विरोधोंमें भी आत्म-प्रकाश करनेवाला है।

१०

धर्मद्वाराही भारतकी नवीन जाति गौरव प्राप्त करेगी। योगही धर्म-प्राप्तिको मुख्य प्रणाली है। योग-सिद्ध व्यक्तिकी शक्ति अपनेको गुणान्वित करके आत्म-परिधि विस्तृत करेगी। योग-सिद्ध व्यक्तिका व्यक्तिगत स्वातंत्र्य समष्टिवोधको तोड़ मरोड़ डालेगा। बहुतसे बाजोंके स्वरोंके मिलनेसे जिस प्रकार एक तानकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार बहुतसे व्यक्तियोंकी ऐक्य-स्थापनामें सुसामञ्जस्य-पूर्ण नवीन राज्य तैयार होगा। वह राज्य और किसीका नहीं होगा बल्कि आत्माकी ऐक्य-मूर्त्तिका—देव-समाजका होगा।

*　　　*　　　*

आत्माको बिना जाने या बिना पाये जो नवीन समाज-गठनका स्वप्न देखा जा रहा है, वह सफल नहीं होगा। आत्माको लेकर ही मानव-जीवन है। जीवनके आडम्बरके भीतर सत्य वस्तु प्रच्छन्न हो गयी है। ज्ञानका विकाश होनेपर ही आत्म-लाभ होगा—इसके लिये शिक्षाकी आवश्यकता है। यह शिक्षा योगके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। योगके पथमें अग्रसर होनेपर जो समृद्धि और सम्पत्ति उद्भूत होगी, उसीका बाहरी रूप साम्राज्य है। अपनेको पा जाने और जान लेनेसे

स्वराज्य प्राप्त होता है। स्वराज्य प्राप्त होनेके बाद ही साम्राज्य-की रचना होती है।

* * *

बुद्धि, मानव-जीवनका श्रेष्ठ तत्त्व है। इसी बुद्धिद्वारा देह-राज्य पैदा होता और उसका काम चलता है। बुद्धिने अपने हिरन्मय पात्रद्वारा जो करोड़ों सूर्यके समान अन्तरात्माओंको आवृत करके रखा है, उन्हें समेटना होगा—तभी ज्ञान सूर्यकी किरणों-के प्रभावसे देहराज्यका नवीन रूप पैदा होगा। बुद्धि, योग-सिद्धिके लिये परम विघ्न भी है, और बुद्धिको सहायता बिना, योगका निश्चय भी नहीं होता। बुद्धिके प्रस्फुरणद्वारा ही योग-सिद्धिकी आशा अधिक की जाती है, अन्यथा अन्धभक्तोंके योग-ग्रहण करनेसे बहुत अधिक बिलम्ब होता है और अन्तमें योग-भ्रष्ट होजाना भी उनके लिए बिलकुल स्वभाविक रहता है। बुद्धि अपने पुराने संस्कारसे किसी नवीन वस्तुका ग्रहण करनेमें बिलम्ब अवश्य करती है, किन्तु एकबार उसका ग्रहण कर लेनेके बाद, फिर किसी कालमें भी उसके पतनकी सम्भा-वना नहीं रह जाती।

* * *

योग-सिद्ध व्यक्तिके समीप रहनेसे योगका ग्रहण करना स्वाभाविक है। किन्तु किसी व्यक्ति-विशेषकी सहायता बिना भी इस योगकी प्राप्ति असम्भव नहीं है। जाग्रत-प्राण-वायुसे तपकी शक्तिका नित्यप्रति संचार करते हुए सब द्वार खुला रख-

कर एकनिष्ठ चित्तसे जो लोग इसकी प्रतीक्षा करते हैं, उनके समीप योग साकार होकर प्रकट होता है। हाँ इतना अवश्य है कि, बाहरकी सहायता भी साधनाके लिये बिलकुल ही उपेक्षा करनेके योग्य नहीं।

* * *

बाहरसे जो इंधन डाला जाता है, वह भीतरी आत्म-शक्तिको शनैः शनैः जगानेमें समर्थ होता है। साधनावस्थामें सत्संग जितना ही अधिक होता है, उतना ही मंगल होता है। किन्तु जिन लोगोंकी सहायतासे साधककी निद्रित शक्ति जाग उठती है, वे केवल सहायकमात्र रहते हैं। गुरु अन्तरतम पुरुष है। हम सबलोग उसके यंत्र हैं—उसे प्राप्त करनेके लिये ही गुरुभावकी सहायता लेनी पड़ती है, अन्यथा न तो यह गुरु करना ही साधकके भीतर दृढ़ रूपसे बँधता है और न सहायता करनेवाला ही साधकके भीतर दृढ़ता पूर्वक निवास करता है। क्योंकि इससे दोनों ही बँध जाते है। हम सबलोग समान भावसे भगवानकी इच्छा पूर्ण करेंगे, समान आनन्दसे लीन रहेंगे—विचित्र लीला रहनेपर भी भीतरमें हम सबलोग एक ही सूत्रमें मणियोंके समान गुँथे हुए हैं—इस बातका सदैव स्मरण रखना चाहिये।

* * *

हमारी साधना किसी जाति-विशेषके लिये नहीं होगी। जितनी जातियाँ हैं, उन सबकी मुक्ति और शुभ कामना ही

हमारी चिन्ताका मुख्य उद्देश्य होगा। समष्टि-साधना करनेके लिये बैठनेपर हमें यूरोप-निवासियोंकी भांति आडम्बरशाली यांत्रिक राज्य (mechanised state) बनानेके लिये प्रयत्न नहीं करना है। हरएक मनुष्यके जीवनको सार्थकतासे परिपूर्ण करना ही इस योगका उद्देश्य है। जिस दिन मनुष्यको योगकी सहायतासे यह बात मालूम हो जायगी कि, स्थान और कालके व्यवधानसे मनुष्यकी कोई स्वतंत्र जाति, धर्म या स्वार्थ नहीं है, उसी दिन एक नये ऐक्यके ऊपर नवीन राज्य स्थापित हो जायगा और वही देव-राज्य होगा। एक बात और होगी; वह यह कि, इस समय कितनेही लोग जो विपुल समाज-शासनके लिये अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार गवर्नमेंट-(Government) की स्थापना करनेकी चेष्टा कर रहे हैं, वे उस समय अपनी यह चेष्टा अनावश्य समझकर परित्याग कर देंगे—या।यों समझिये कि उनकी चेष्टा अपने आपही छूट जायगी। यद्यपि उस समय मानव-जातिका कर्म ही उद्देश्य रहेगा, तथापि उससे केवल समूचे मानव-समाजका भीतरी रूपही प्रत्यक्ष प्रकट होगा और कुछ नहीं। कार्य-शृंखलाके लिये केन्द्र एवं उसका प्रतिनिधि स्वरूप जीवन ही जातिका सारांश है। इसका बिन्दुमात्र भी व्यतिक्रम होनेसे मानव-जीवनका अन्तिम आदर्श सफल नहीं हो सकता। वैदिक युगमें भारतमें क्षुद्र अग्निकी मूर्त्ति-समष्टिमें इस प्रकारकी सृष्टि-रचना हुई थी, भविष्यमें वही बड़े आकारसे सारे संसारमें प्रत्यक्ष हो उठेगी।

भावी संसारमें जो नयी जाति पैदा होनेवाली है, उसका चिह्न बंगाल प्रदेशमें प्रस्तुत है। भारतका बंगाल प्रदेश ही संसारका मेरुदंड स्वरूप होगा। सबसे पहले बंगालियोंको ही संसारकी शान्ति और मंगल-साधनके लिये तैयार होकर उठना पड़ेगा। भारतके दूसरे सब प्रदेशोंमें जागृतिके चिह्न दिखायी पड़ रहे हैं। सब प्रान्तके लोग भिन्न भिन्न नेताओंके नेतृत्वमें उन्नतिके मार्गमें दिनपर दिन अग्रसर होते जा रहे हैं। लोकमान्य तिलककी जीवन-साधनासे महाराष्ट्र प्रदेशमें अवश्य ही एक अपूर्व नवीन शक्तिका संचार हुआ है, किन्तु भारतके जीवन-सिद्धान्तमें उनकी झंकार चारों ओर नहीं पहुँच सकी *। मद्रासने गिरना प्रारम्भ कर दिया है, उसका पुराना संस्कार, आचार-विचार सब कुछ शिथिल होता जा रहा है। महात्मा गांधीकी साधना नीति-मूलक है, और बंगाल त्रयी-साधनामें कुछ कुछ अग्रसर हो रहा है, इसीसे इस क्षेत्रमें धर्मके हिसाबसे खम्भा नहीं गड़ सकेगा। पंजाबकी उग्रशक्ति सराहनीय है; वह सत्यकी खोजमें भी बढ़ता जा रहा है। चारों ओर जागृतिके लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं। इस समय भारतमें नवीनता पैदा हो रही है, यह बिलकुल स्पष्ट है।

* कारण यह है कि लोकमान्यके काम करनेके समय तो देश एकदम निद्रित था। उन्होंने देशको जगाया। आवाज भी दी, पर लोग निद्रामें सुन नहीं सके, तबतक वह चले गये। सारांश यह कि, उनका काम केवल जगाना ही था, आवाज पहुँचाना नहीं।

बंगालके राजसिक आन्दोलनका अब अन्त हो गया है। यही कारण है कि, अब बंगाली मनुष्य होनेमें समर्थ हो रहे हैं। बँगलाका साहित्य अर्द्ध शताब्दी-(५० वर्ष) में ही इतना उन्नत हो गया है, और सौ वर्षोंके भीतर ही बंगालियोंके जीवनमें धर्मके सच्चे तत्त्वोंका उदय हुआ है। यद्यपि बंगाल-प्रदेशमें इस समय भी हजारों अन्धेरे संस्कार विद्यमान हैं, तथापि बंगालमें जो आन्दोलन चल रहा है, उसके प्रकाशसे शीघ्रही उनका अन्त हो जायगा। बंगालियोंको अन्तर देवता-की आभा प्राप्त हुई है। बंगालियोंके जीवन-यज्ञमें स्वयं श्रीकृष्ण भगवान पुरोहित रूपसे विराज रहे हैं। इसीलिये बंगाली लोग और मार्ग छोड़कर नवीन मार्गसे आगे बढ़ रहे हैं। बंगालियों-की यह नवीन यात्रा अवश्यमेव जय-युक्त होगी, यह बिलकुल निश्चित है।

* * * *

बंगालमें जो एक नवीन जाति उत्पन्न हुई है, वह पुरानी राजनीतिक साधनाके अन्तर्गत नहीं है। न तो इसकी उत्पत्ति वर्त्तमान असंख्य व्यक्तियोंको लेकर ही हुई है, और न यह नवीन दल किसी कार्य, उद्देश्य अथवा अवस्थाको केन्द्र मानकर एकत्र ही हुआ है। इस दलके लोगोंकी दृष्टि भी जन-समूहकी ओर नहीं है, और नतो आडम्बर खड़ा करनेकी ओर ही लक्ष्य है। भीतर ही भीतर शृंखलित होकर एक शक्ति-पिंड तैयार करके अपनी परिधिका विस्तार करना, तथा आवश्य-

कतानुसार अपनेको विदीर्ण करके नवीन प्रकाश छोड़ना ही इस दलका प्रधान उद्देश्य है। बंगाल-प्रदेशके सबलोग एक दिन इस दिव्य प्रकाशसे विधि निर्दिष्ट पथका अनुसरण करनेमें समर्थ होंगे।

* * *

केवल सिद्धिकी अपेक्षाके कारण ही नये साधकोंके आत्म-प्रकाशमें विलम्ब हो रहा है। यद्यपि बंग-समाजकी भाव-वृत्ति बड़ा ही सुन्दर विकाश प्राप्त कर रही है, तथापि केवल वही भविष्यके कर्मके लिये पूरी सामग्री नहीं है। भीतरकी इच्छाको देशके मनमें विस्तृत कर देना चाहिये, ताकि देशवासी उसे जान जायँ। किन्तु इतनेसे भी सब कुछ नहीं हो जायगा। इसके अतिरिक्त इच्छाको मूर्त्तिवान करना पड़ेगा—और इसीके लिये साधना भी चल रही है। विज्ञानका रास्ता मुक्त हो जानेपर ही बंगालियोंका कर्म निर्विवाद सुसम्पन्न होगा, अन्यथा होगा ही नहीं।

* * * *

यह साधना किसी एक आदमीपर निर्भर नहीं करती। एक आदमीके सिद्धि-प्रवाहमें सबलोग यदि पांव जमावेंगे, तो प्राचीन युगके समान एक आदमीके व्यवधानसे जातिका जीवन मिट्टीमें मिल जायगा। सबके जीवनको समान भावसे समुन्नत होनेकी आवश्यकता है। अवश्य ही जिन लोगोंने पहले पहल साधन आरम्भ किये थे, उन्हें उसे प्राप्त करनेमें बहुत

अधिक समय लग गया था, किन्तु अब जो लोग साधन आरम्भ कर रहे हैं, उन्हें उसके प्राप्त करनेमें उतना विलम्ब होनेकी कोई बात नहीं है। क्योंकि अब तो साधना करनेवालोंको पूर्व साधकोंसे बहुत बड़ी और यथेष्ट सहायता मिलेगी।

* * * *

जीवनकी तीन अवस्थाएँ हैं। पहली साधारण अवस्था, दूसरी साधनकी अवस्था और तीसरी सिद्धिकी अवस्था। साधरण अवस्थामें, मनुष्य चेष्टा करके ही सब कुछ करना चाहता है। वासना ही उसके जीवनकी मूल-शक्ति है। वह अपने मनमाने कामोंमें ही मस्त रहना चाहता है। साधनाकी अवस्थामें सारी वासनाएँ छोड़कर चलना पड़ता है। इसीको संयम कहते हैं। किन्तु इस बातका स्मरण रखना चाहिये कि, यह संयम-निग्रह (बंधन) नहीं है। संयमकी बात सुनकर ही बहुतसे लोग राजयोगकी विधिके अनुसार निग्रह-नीतिका ही अवलम्बन करके बैठ जाते हैं, पर यह ठीक नहीं। वासनाकी तरंगोंके आघातोंसे जिसमें मानस विचलित न हो जाय, इसके लिये तपस्या करना ही संयम है। चित्त स्थिर हो जानेपर वासनाओंकी जगह भगवानकी इच्छाका ही उदय हो जाता है। सिद्धावस्थामें वासना और चेष्टाका एकदम नाश हो जाता है, अपने आप ही शुद्ध कर्म प्रकट होता है। उस समय तो साधक बिलकुल ही भगवानका यंत्र हो जाता है।

* * * *

यूरोपमें आज ध्वंसका युग चल रहा है। किन्तु वहाँके लोगोंको अपना पतन मालूम नहीं हो रहा है, वे तो उसे पुनः निर्माण समझ रहे हैं। आयर्लैंडका प्राण-प्रस्फुरण विराट् रूप धारण कर चुका है। उसे अब शीघ्र नया निर्माण चाहिये। रशियाने भी उठना आरम्भ कर दिया है। संसारमें चारों तरफ जो हाहाकार मँचा हुआ है और गोलमाल हो रहा है, वह और कुछ नहीं है, चिन्ता न करने योग्य हमारे जीवनमें जो नवीन धारा प्रवाहित हो रही है, राजसिक आधारसे उसीकी भिन्न भिन्न धाराओंकी लीलामें सारा संसार लीन है। आज जो देश गिरे हुए हैं, उनके उठनेका दिन आया है। भारतवर्ष-का उत्थान होगा—संसारके जीवनमें धर्मकी धारा बहानेके लिये, और किसी कामके लिये नहीं। एशियाके प्रकाशकी किरणें पड़नेपर ही यूरोप-निवासियोंको धर्मका गौरव होगा और वहाँके निवासी धर्म-युक्त तभी होंगे भी।

* * * *

भगवानकी अपार्थिव करुणा केवल बङ्गालियोंको ही प्राप्त हो रही है, इस प्रकार समझना मूर्खता है। संसारके सब मनुष्योंपर ही समान भावसे इसकी वर्षा हो रही है। आधार-भेदसे सब जगह भिन्न भिन्न तरहका प्रकाश मात्र हो रहा है। किन्तु बंगालियोंका आधार बड़ा ही उपयोगी हो गया है। चैतन्य युगसे ही धर्मकी जो धारा बह रही है, उसकी तुलनामें इस समय उसकी प्रचंडता अत्यन्त अधिक होती हुई भी,

बंगाली-जाति स्थिर-चित्तसे उसका निश्चय कर रही है। कहीं कहींपर जो चैतन्यकी दशा-प्राप्तिकी बात सुन पाते हो, वह आधारकी असमर्थताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार लीलाके लक्षण स्पष्ट हो जानेपर भी ऐसा दिन आ रहा है, जब बंगाली अच्छी तरह अमृतपान करके भी साधारण मनुष्यकी भाँति साधारणसे साधारण क्षेत्रमें बड़े ही निपुण भावसे छोटेसे भी छोटा काम करके, उसे सम्पन्न करेंगे।

* * * *

बंगालियोंका जीवन बहुत ही जल्द प्रफुल्लित होनेवाला है। बंगाली अपने नाम-रूपके सब संस्कार बिलकुल ही भूल जायँगे। उनका मानस जितना ही प्रकाशपूर्ण हो जायगा, बाहरी आचरण भी उतना ही शिष्ट एवं सौंदर्यमय हो जायगा। गीता और उपनिषद्का अक्षर अक्षर बंगालियोंकी बुद्धि ग्रहण कर लेगी। वे अक्षर केवल ग्रहण ही नहीं होंगे, उनके समीप वे सत्य और साकार हो जायँगे। बंगालियोंका भविष्य बड़ा ही उज्वल एवं आशापूर्ण है।

* * * *

साधनावस्थामें साधकोंको सहनशील (passive) होकर रहना चाहिये। सिद्धावस्थामें वह अपनेको ईश्वर समझ सकता है। सिद्धि प्राप्त हो जानेपर केवल शक्तिकी ही साधना करनी पड़ती है। क्योंकि इसी शक्तिने जीवके साथ ईश्वरके व्यवधान-की सृष्टि करके दरवाजा बन्द कर रखा है। इस बन्द कपाट-

को हमलोग अपनेसे नहीं खोल सकते, इसे तो शक्तिही खोल सकती है। किन्तु यह शक्ति हमारी तुम्हारी या और किसी दूसरेकी नहीं है, यह शक्ति विश्व-शक्ति है। जो लोग इस शक्तिका दर्शन सिद्धकर लेते हैं, उनकी वाणी तलवारकी धारके समान और कर्म आनन्दकी लहरी तुल्य हो जाता है।

*　　　*　　　*　　　*

साधक क्या करेगा और क्या नहीं करेगा आदि आज्ञाओं-का निश्चय कर देनेसे ही मनुष्यको लँगड़ा बन जाना पड़ता है। क्योंकि यह सोचनेकी बात है कि, जो कुछ करना होगा, उसकी मार्मिक बात हम दूसरेसे कहेंगे क्योंकर? अपने भीतरसे जिस कामकी प्रेरणा होती है, वही सत्य कर्म है। स्वप्नमें भूल-कर भी किसीके कर्ममें बाधा उपस्थित न करो। बाधा रहित कर्मक्षेत्र पाकर साधक अपने आप ही बहुत शीघ्र वासनाओं और प्रेरणा-मूलक कर्मोंका लक्षण निश्चय करके सत्य-निर्देश समझ जायगा, यह बिलकुल निश्चित है।

*　　　*　　　*　　　*

आसक्तिका त्याग करना पड़ेगा, नकि भोगका। विषयका त्याग करनेसे होगा ही क्या? चित्तमें जिस वस्तुकी प्रेरणा उपस्थित होती है, वह भी तो ऊपरसे ही उतरकर आती है। विवाह करोगे, या नहीं करोगे, इस विषयमें द्वन्द्व काहेका? सबलोग उन्हींकी इच्छापर निर्भर करते हैं। उनकी इच्छा क्या है, यह बात यदि तुम अच्छी तरह न समझ सको, तो

फिर तुम अन्धे हो; अन्धे होकर फिर एक आदमीका पथ निश्चय करनेका दुस्साहस करना क्या तुम अपने आप नहीं समझ सकते कि, क्या है? अन्धा कभी मार्ग निश्चय नहीं कर सकता। बुद्धिके साथ भगवानकी इच्छाका मिलान हुए बिना, किसी भी कर्मके करनेका अधिकार नहीं रहता। जो लोग बिना भगवानकी इच्छा जाने कर्म करते हैं, उनके सब कर्म संस्कार-सृष्टिके कारण होते हैं। भगवानकी कृपासे जो मार्ग दिखायी पड़ता है, वही मार्ग सच्चा होता है, किन्तु उस मार्गका दिखायी पड़ना सिद्ध जीवनमें ही सम्भव होता है। सिद्ध जीवन और कुछ नहीं है, उनके साथ योग-युक्त होकर उन्हींकी प्रीतिके लिये सब काम करना ही सिद्ध-जीवन है।

* * *

साधारण जीवनमें स्त्री-पुरुषमें जिस आनन्दका अभिनय (नाटक) तुम देख रहे हो, वह भीतरके पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे जो आनन्द है, उसीका अन्धा अनुकरण-मात्र है। अपनेको प्राप्त किये बिना, जाने बिना तथा आनन्दके उत्पत्ति-स्थानका बिना ठीक ठीक पता मिले, जीवन क्या कभी सार्थक होता है? कभी नहीं। स्वामी और स्त्रीके बीचका जो सम्बन्ध है, वह बड़ा ही पवित्र और बड़ा ही आनन्द दायक सम्बन्ध है। शरीरका शरीरके साथ भोग करना ही भोग करना नहीं है। भोगके अर्थमें तो दैहिक भोग ही नहीं है। स्वामी अपनी स्त्रीमें ही संसारका दृश्य देखना चाहता है, और स्त्री संसारभरका

आनन्द अपने स्वामीके भीतरसे ही पाना चाहती है। प्राणके साथ प्राणका, मनके साथ मनका बुद्धिके साथ बुद्धिका, ज्ञानके साथ ज्ञानका और देहके साथ देहका भोग होता है—बस यही मिलन है—सच्चा मिलन है, और इसीका नाम दाम्पत्य जीवन है।

प्रकृतिकी क्रीड़ामें किसी प्रकारकी रुकावट पैदा न करो। उसे बिना रोक टोक क्रीड़ा करने दो। प्रकृतिकी सहायतासे ही धीरे धीरे ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त होगी। जीवनकी समूची लीलाओंको ही आत्माकी लीलामें परिणत कर देना होगा। उत्पादन यानी सन्तानोत्पन्न करना ही भोगका उद्देश्य नहीं है। इस प्राकृत भोगके पीछे एक बहुत बड़ा आनन्द पैदा होता है। पुत्र हो चाहे न हो, इस आनन्दमें डुबकी लगाना ही मनुष्यका धर्म है। प्रकृति प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें बँधी हुई है। प्रकृतिको लाँघकर आगे जानेकी शक्ति किसीमें नहीं है। सृष्टिकी आदिम अवस्थासे ही पुरुष प्रकृति-गत होगया है। पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध नित्य और सम्पूर्ण है।

* * *

मनुष्य जिस दिन भगवानका यंत्र स्वरूप एक विराट् समष्टिको बना लेगा, उस दिन उसका सब द्वन्द्व मिट जायगा। नवीन जाति जो भविष्यमें पैदा होनेवाली है, उसका समाज-चित्र किस प्रकारका होगा, इस बातकी कल्पना करना तरल-चित्तका लक्षण है। उसका चित्र चाहे जिस तरहका हो,

हमें इस बातका सम्भार करना है कि, काम ऐसा होना चाहिये जिसमें जो चित्र पैदा हो, वह वासनासे उत्पन्न न हो अर्थात् उसमें वासनाकी बू न रहे, वह शुद्ध प्रेरणासे ही उत्पन्न हो। बस इसी ओर पूर्ण लक्ष्य रखकर ही नवीन जातिको भी अग्रसर होना चाहिये।

आदेश

यह कहिये कि आप आदेश कहते किसे हैं? और वह आदेश होता किस प्रकारसे है?

उस समय कर्मयोगिन्‌का मामला था—प्रश्न उठा था कि, पूर्ववत् राजनीतिक जीवन या भारतकी साधनाका रहस्य? हमारी बुद्धि उस समय कुछ भी निर्णय नहीं कर सकी। आदेश हुआ था कि चन्दर नगर जाओ (Go to chandernagore)। क्यों, बात क्या है, हम कुछ भी समझ नहीं सके। उसी क्षण यह भी सुना था कि पांडिचेरीसे ठीक वही संदेश आ रहा है (the samething with Pondicherry coming)। इस प्रकारकी आकाशवाणी बिलकुल ही दुर्लभ (rare) वस्तु है; किन्तु आदेश अद्भुत (miracle) नहीं।

आदेश पाया था मुहम्मदने—वह आदेश देववाणी था। इसलिये उन्हें किसी प्रकारका संशय नहीं रह गया था। संसार भरमें धर्म-स्थापना करना चाहिये। किन्तु उनका लक्ष्य समूचे जगत्‌के लिये नहीं था, क्योंकि उनको प्रकृत आदेश ही एक बृहद् समष्टिके लिये हुआ था, समूचे संसारके लिये नहीं। कहना पड़ेगा कि उनके अहंकारने ही उनके सत्यको बढ़ाकर (magnify) करके दिखलाया था।

उस दिन जिस समय लोकमान्य तिलकका देहान्त हुआ,

उसी समय गांधीका उदय हुआ। इस घटनाका हमने स्पष्ट दर्शन किया। हमें यह भी मालूम हुआ कि यह समय गान्धीके काम करनेका है, यह युग या समय हमारा नहीं है। गान्धी जो कुछ करनेके लिये आये हैं, वह करेंगे। इस समय कोई भी मनुष्य उनके सामने खड़ा नहीं हो सकता। उन्हें जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह निसन्देह विश्वसनीय है। यदि गांधी अपने काममें असफल भी हो जायँगे, तब भी वह अपना कुछ अंश अवश्य दे जायँगे, और वह देशकी भवितव्यता-(destiny) का यथेष्ट सहायक होगा।

* * *

एक आदेश आ रहा है (ऊपरसे, जिस ऊपरका उल्लेख पहले किया गया है) किसी वृहद् व्यापार या आन्दोलन-(movement) के लिये और अपने लिये; और वह आदेश है काम करनेके लिये तथा (अपने को) होनेके लिये या पूर्णता प्राप्त करनेके लिये।

* * * *

हम मनुष्योंको और उनके जीवनको आत्मामें मिला देना चाहते हैं, और इसीके लिये प्रेरणा भी हो रही है। किन्तु मालूम नहीं कि यह सब मनुष्योंके लिये, सारे संसारके लिये होगा या नहीं। पर हमारी आशा कुछ ऐसी ही है और यही हमारा उत्साह और उद्यम भी है—आगे भगवानकी जैसी इच्छा होगी, वही हम मान लेंगे।

हमने देखा है कि, आदेश निष्कपट या असली (genuine)

एवं नकली (imitation) बहुत तरहके होते हैं। हमें यह भी मालूम हो गया है कि कितने ही आदेश ऊपरसे आते हैं, और वे स्वच्छ आदेश करनेवाले (clear imperative) होते हैं। यदि ऐसा न हो, तो स्थित रहनेकी बिलकुल आशा ही न रह जाय। जीवनके बड़े बड़े अन्तिम व्यापारोंके समय हम इन्हीं आदेशोंद्वारा आगे बढ़नेमें समर्थ हुए हैं। आध्यात्मिक प्राण- (psychic inspiration) का संचार भी हो जाता था, और अधिकांशका मनके स्वभावके साथ सम्मिश्रण रहता था। इसके अतिरिक्त एक बात और है; वह यह कि, आध्यात्मिक प्रवृत्ति। इस आध्यात्मिक प्रवृत्तिमें भी यह बात है; जिस प्रकारकी प्रवृत्तिके लिये ऊपरसे आदेश होता है, उसीको अवश्यम्भावी और अनिवार्य समझना चाहिये, सबको नहीं। क्योंकि बहुतसे आदेश आध्यात्मिक-क्षेत्र-(psychical world) के आस-पास चारों ओरसे आया करते हैं। सम्भवतः उनमें बहुतसे आदेश सत्य भी रहते हैं, किन्तु दूसरोंके लिये, अपने लिये नहीं। उदाहरणके लिये असहयोग-(नन्-को-अपरेशन)को ही ले लीजिये; अब यदि असहयोग आन्दोलनके सम्बन्धमें हमें यह अर्द्धांश आदेश मिला होता कि 'यह समय इसी आन्दोलनका युग है', और बाकी अर्द्धांश—अर्थात् इसमें हमें सहायता पहुँ-चानेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, यह आदेश दूसरेके लिये है, यह भी उसके साथ ही साथ न समझते, तो दूसरेके आदेशको अपने लिये समझनेसे हमें भारी भ्रममें पड़ना पड़ता।

इस प्रकार बहुत तरहकी देववाणी, संदेशे (message) और ध्वनि-प्रतिध्वनि प्राप्त होती हैं, किन्तु उन सबमें सत्यता नहीं रहती अर्थात् वे सब सत्य नहीं बल्कि उनमें से अधिकांशमें तो मिथ्या और सत्य दोनोंकी मिलावट रहती है और कितनी ही दूसरोंके लिये होती हैं। इन्हें समझनेके लिये अच्छी तरह पवित्रता पूर्वक योग-स्थित होकर उन्हें अलग अलग कर देना (distiuguish) चाहिये। इसका कारण यह है कि, बहुत सी ऐसी सूक्ष्म वस्तुएँ (beings) और शक्तियाँ (forces) सूक्ष्म-जगतमें घूमती हुई भटकती रही हैं जो हमारे स्थूल जगत के व्यापार-समूहमें मतलबसे साबद्ध (interested) हैं—उनका कितना और क्या संदेशा (message) है, इसका लक्षण योग-स्थित होनेसे ज्ञात हो सकता है। किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, लक्षण भी अनेक तरहके होते हैं। अपने जीवनके छोटे बड़े आदेश (direction) ही परिवर्त्तनके लिये इशारे हैं। ऊपरके स्वच्छ आदेश ही निर्मल आदेश होते हैं, और उन्हीं आदेशोंको मानना भी चाहिये।

* * * *

प्राणका भी सत्य है, और वह होता है अपनी सिद्धि· (self-perfection) के लिये या किसी बड़े कामके लिये।

किन्तु आदेश ऊपरी स्थिति (over bearing) या ऊंचे दर्जेकी बात है अर्थात् यह सिद्धावस्थामें ही प्राप्त होता है। फिर तो यह सबको समेट लेता है। इसलिये ऐसी दशामें खूब

सावधान रहना चाहिये। जिस समय..................उस समय हमारे लिये आदेशकी आवश्यकता थी। किन्तु हमारे पास आदेश देनेके लिये कुछ था ही नहीं। यही कहा कि स्वतः उसके भीतरसे जो कुछ उत्पन्न हो, वही वह करे।

* * * *

आदेश कहाँसे आता है और किस अवस्थामें आता है, इसी बातके जाननेके ऊपर सब कुछ निर्भर करता है। यदि यह समझ लिया जाय कि आदेश ऊपरसे (supramental) आता है, तो इतनेसे ही काम नहीं चल सकता, क्योंकि ऊपरमें बहुतसे स्थल (level) हैं, बहुतसी अवस्थाएं हैं और बहुतसे भाव हैं; जैसे सत्य-बुद्धि (plane of supramental reason), सत्य-श्रुति (plane of supramental inspiration), सत्य-दृष्टि (plane of supramental revelation) आदि। इसके ऊपर भी विज्ञान, दिव्य-राज्य (supermind—or divine mind) है।

* * * *

अतएव यह देखना चाहिये कि, आदेश किस स्थानसे आता है—बुद्धि-पटसे आता है या चित्त-पटसे; हृदयसे आता है या प्राणसे? ऊपरका सत्य कई तरहका होता है; जैसे आदेश करनेवाला सत्य (imperative truths), सम्भवनीय सत्य (potential truths) यथार्थ सत्य (actualising truths) किसी समय यह भी होता है कि हमने आदेश ठीक पाया है किन्तु उसके देश, काल और पात्रके संस्थान और सन्निवेशके

सम्बन्धमें, मनकी सारी सम्भावनाओं और कल्पनाओंको अपने वशमें कर लेनेके बाद। ऐसा करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है। भूलका भय करनेसे काम नहीं चलता। सब कुछ ऊपरसे ही संशोधित (corrected) होता है। अतएव मस्तिष्कको सदैव सजग रखना चाहिये। उसे मनके स्वभावमें न मिलाकर ज्ञानद्वारा सत्यमें पहुँचा देने तथा उसे पूर्ण और उदार भावसे प्राप्त करके ऊपर उठानेकी ओर ही हमारा प्रधान लक्ष्य है। पर यह ध्यान रहे कि नीचेकी सारी इंद्रियोंको उस ज्ञानमें स्थित करनेसे ही यह काम होता है। इसीसे इसकी ओर भी हमारा लक्ष्य है। इसके लिये पूर्ण स्वतंत्र विशाल शुद्ध बुद्धिका भाव (large openness) होना चाहिये।... ......जिस समय यहाँ आया था, उस समय उसके विज्ञानका द्वार हमने खोल दिया था। इस विज्ञानमें सब समान भावसे संग्रह करते जाना चाहिये।

*　　　*　　　*

प्राण, अपनी आत्माके ज्ञानके लिये अपने ही कर्म और प्रेरणासे ठीक ज्ञानके ऊपर स्थापित हो सकता है। किन्तु औरोंकी आत्माओंका भी अपने भीतर अनुभव करना चाहिये। इतना ही नहीं, विश्वके सत्य, सबके सत्य और स्फुटीकरण- (manifestation) के सत्यका एकसे अनुभव करना चाहिये। यदि दूसरे लोग इसमें असमर्थ होजायँ, तो उनको सहायता करनी चाहिये।

सब लोगोंके लिये अपनेको हमेशा उदार रक्खो। गांधी जिस आदेशसे चले, उस आदेशसे यदि वह न चलते, तो अपने धर्मका उल्लंघन करते, उनका धर्म ही नष्ट हो जाता। भगवान, मनुष्यकी मर्यादा (limitation) एवं शक्ति दोनोंका ही व्यवहार उसके महान उद्देश्यके लिये करते हैं।

* * * *

पहले आत्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् उर्द्ध्व-प्रकृति या परा-प्रकृतिका रहस्य समझनेमें तन्मय होना चाहिये। मनरूपी क्षेत्रमें शक्तिका संचार होनेसे ही इस परा-प्रकृतिके रहस्यका ज्ञान होता है। अभीतक भारतीय साधक मानसिक परा-प्रकृतिके रहस्य और मानसिक स्वर माधुरी- (mental harmony) को लेकर ही संतुष्ट थे। यद्यपि इस जगह सत्य, धर्म, प्रकाश, प्रेम और शक्ति सारी वस्तुएं पायी जाती हैं, संसारके साथ, प्रकृतिके साथ यहाँतक कि इतर-प्राणियोंके साथ मेल भी हो जाता है, उनके स्वरमें अपने स्वर की मधुरता भी मिल जाती है, और उससे विश्वका आनन्द तथा विश्वमात्रका ज्ञान आदि प्राप्त हो जाता है—इन सभोंको उसके मानसको दूसरे यंत्र, देह, प्राण और इंद्रियोंको अपने अधिकारमें करके आगे भी बढ़ा देता है—तथापि इस स्थान-से कायापलट या रूपान्तर (transformation) नहीं होता। कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसी अवस्थामें तो चाहे जो कुछ भी प्राप्त होजाय, किन्तु वह सब संसारके कामोंमें

प्रवेश करते ही चौपटहो जाता है, रह नहीं जाता। इसका कारण यह है कि, संसारके काम-(action) में जितने अन्यान्य धर्मों तथा अन्यान्य सामाजिक नियमोंका अनुसरण करता हुआ मनुष्य चला आता है, संसारके प्रकृष्ट भावसे या विजयी भावसे उनसे खींचकर लानेकी शक्ति मनकी नहीं होती, ऐसा करनेमें मन असमर्थ है। उनसे खींचकर लानेकी शक्ति उत्पन होती है—ऊपर उठनेपर—परा-प्रकृतिका रहस्य जान लेनेपर। क्योंकि भगवानका महान प्रकाश (higher manifestation), तथा निम्न प्रकृतिका सत्य और असली स्वरूप वहीं रहता।

* * * *

ऊपरमें अच्छी तरहसे स्थित न हो जानेतक, बिना बिचारकी मानसिकता प्रकट हो सकती है और हो भी जाया करती है। किन्तु पूर्ण सिद्ध सहजोपलब्ध मानस (perfect intuitive mind) हो जानेपर जब इसका आगमन होता है, तब उसमें बहुत अंशोंमें निर्दोषता, पूर्णता तथा कर्म-क्षमता रहती है। हाँ, इतना अवश्य है कि मानस, जैसा यह है, हृदय-पटके ऊपरकी वस्तु तथा प्रकाशका अच्छी तरह प्रकाश नहीं कर सकता। किन्तु इससे कोई अड़चन नहीं पड़ती, और न इसकी सम्भावना ही रहती है। इसमें डरकी कोई बात नहीं है। हमलोगोंमें कोई भी अभीतक ऊपर परा-प्रकृतिमें प्रवेश नहीं कर सका है, और न कोई वहाँपर कुछ कालतक

स्थित ही रह सका है। अतएव अबकी बार इस युद्ध में हमारा सत्यमें वास करना था सत्यमें घर बनाना (dwelling in truth) परमावश्यक है । सत्यसे चिरस्थायी होनेमें भी भूलका होना सम्भव है, क्योंकि सत्यतो ऊपरका ही निर्भूल और ठीक है; किन्तु संसारके जो असम्पूर्ण पाञ्चभौतिकके ऊपर, देह, प्राण तथा मनपर उसका प्रयोग तथा क्रीड़ा है, उससे वह सत्य पृथक, मिला हुआ तथा उसीसे उत्पन्न है, और उससे टेढ़ाभी हो सकता है। संसारसे परे पूर्ण, अभ्रान्त जो अव्यर्थ भावरूपसे कार्य करनेवाला सत्य है, उसी सत्यतक पहुँचना होगा, और उसी सत्यमें निवासभी करना पड़ेगा। सबका रूपान्तर भी उसी जगह कर लेना पड़ेगा। हमें सत्यमें या विज्ञानमें ही रहना चाहिये। मानसका सहज ज्ञान बिलकुल दोष रहित हो जानेपर भी, वह बड़ी शीघ्रतासे अनभिज्ञताका मानस छोड़कर अपनेको विस्मृत हो जानेवालेके मस्तिष्कके भीतर जा घुसता है। अनभिज्ञ हृदय इस रहस्यकी लीला कुछ भी नहीं समझ पाता, क्योंकि वह तो बाहरसे ही सब कुछ जान लेनेकी चेष्टा करनेकी धुनमें मस्त रहता है। अपनेको विस्मृत होनेवाला मनुष्य अपने मानसके मस्तिष्कको सत्यके भीतर समझता है, और वह यही अनुभव भी करता है, किन्तु वह उसे पाता नहीं। जिस प्रकार अन्धेरे घरमें दीपक अपना प्रकाश इधर उधर थोड़ा बहुत फैलाता है और जहाँ प्रकाशकी आवश्यकता होती है, वहाँ दीपक ले जाना

पड़ता है, उसी प्रकार मानसका मस्तिष्क है। मानसका मस्तिष्क ही मानो विद्युत लोकमें पूरा घर है, अतएव सारी वस्तुओंपर इसका भी प्रकाश नहीं पहुँचता। इसीसे सब वस्तुओं का ज्ञान भी नहीं होता। केवल एक इच्छा मात्रको समेट लेनेसे सरलता पूर्वक और शक्तिसे पूर्ण सत्य जाना जाता है और प्राप्त भी हो जाता है। जिस प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस देवका था—उन्हें संसारके समूचे ज्ञानपर दैवी आज्ञा थी—वह इच्छा-मात्र, माका इशारा मात्र जानते थे और कुछ भी नहीं।

हमारा लक्ष्य है—मानसके मस्तिष्कको भी छोड़कर एक बार विज्ञान-(supermind) तक पहुँचनेको और इसी विज्ञान-को दैवी मानस या ऊर्द्ध प्रकृतिका मस्तिष्क (divine mind or supramental knowledge) कहते हैं, क्योंकि वहाँ पहुँचनेसे ही जीवन, जीवन होता है। केवल देहहीका अन्तर्ज्ञान हो जानेसे कुछ नहीं हो सकता। ऊर्द्ध-प्रकृतिकी जानकारी होनेकी भी आवश्यकता है।

इसके लिये आवश्यकता है, एक स्थूलता (largeness), विस्तीर्णता (wideness) एवं महान प्रकाशकी सरलता या निर्मलताकी (openness to the higher light)। मनके भीतर जो ऊपरसे प्रकाश आ रहा है, वह मनमें आते ही लोप हुआ जा रहा है, किन्तु इस जगह दृढ़बद्ध (tightly) और कड़ाईसे पकड़ना (rigidly hold) ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि, सत्य एकदम सूक्ष्म और स्वच्छ वस्तु है।

उसपर कड़ाई करनेसे उल्टी हानि पहुँचती है।..............
जो लोग इस प्रकार हठ करके दृढ़तापूर्वक सत्यको पकड़ना चाहते हैं, वे भारी भूल करते हैं। शुद्ध हृदयसे (sincerely) सत्यको पकड़ना चाहिये। इसके लिये मनका द्वार सदैव खुला रखना चाहिये। मनका द्वार खुला रहनेसे ही नये नये सत्योंका प्रकाश बिना विघ्न बाधाके सरलता और सुगमतासे भीतर प्रवेश कर सकता है। किन्तु इसका भी ध्यान रहे कि, खुला द्वार केवल सत्यका प्रकाश पहुँचनेके लिये ही रहे, औरोंके प्रवेशके लिये नहीं। इसी तरहसे सत्यकी ओर मुख करके उसीके महान उदार प्रकाशमें चलना चाहिये।

* * * *

कर्मकी गतिके पहलेकी अपेक्षा कुछ शिथिल हो जानेकी भी बहुत बड़ी सम्भावना रहती है, और वह शिथिल हो भी सकती है; किन्तु इससे कोई हानि नहीं हो सकती। स्थिर स्थायी-कर्मसे तो सत्य और महान शक्तिकी उत्पत्ति होती है। हम कर्मका त्याग करनेके लिये नहीं कह रहे हैं। इसलिये सब कर्म छोड़ देनेपर भी कर्म त्यागपूर्ण सहनशीलता-(passivity) के धारण करनेकी शक्ति-(capacity) का रहना आवश्यक है। 'कर्मणि अकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः...... ।*

—:-:-—

* गीताके चौथे अध्यायका १८ वाँ श्लोक है। इसकी दूसरी पंक्ति है—
'सबुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत ।'

परिशिष्ट

पुस्तक तो समाप्त हो गयी, अब इस प्रकरणमें हमें दो चार खास बातोंको स्पष्ट करना है। इस पुस्तकमें 'वृत्ति' शब्द कई बार आया है। अतः पहले वृत्ति क्या है, इसीका स्पष्टीकरण करना है।

वृत्ति—रूप रसादि बाह्य विषयोंके संयोगसे जीवका अन्तःकरण उस संयुक्त विषयके जिस आकारमें ठीक ठीक परिणत होता है उसीको वृत्ति कहते हैं। मनकी यह वृत्ति पांच प्रकारकी है। लयात्मिका निद्रा-वृत्ति, विक्षेपिका प्रमाण-वृत्ति, विपर्यय, विकल्प और स्मृति।

(१) निद्रावृत्ति—जाग्रत और स्वप्न वृत्तिके अभावका अर्थात् प्रकृष्ट रूप लयावस्थाका कारण तमोगुण है। तम जिस वृत्तिका विषय है, उसी वृत्तिका नाम निद्रा है।

(२) प्रमाणवृत्ति—किसी वस्तुके रूपका उसी तरह अनुभव करना जैसा कि वह हो, प्रमाणवृत्ति है।

(३) विपर्ययवृत्ति—वास्तविक रूपका उलटा अनुभव करना विपर्यय वृत्ति है।

(४) विकल्पवृत्ति—वस्तु न हो और शब्दके लिये एक प्रकारकी।मनकी वृत्ति हो उसे विकल्प वृत्ति कहते हैं। विपर्यय वृत्ति तो रोकी जा सकती है किन्तु यह नहीं।

(५) स्मृतिवृत्ति- जाग्रदवस्थामें जिन विषयोंका अनुभव किया जाता है, उनका संस्कार या शक्ति सूक्ष्म रूपसे मनमें स्थित रहता है। समय पाकर वह संस्कार प्रबल हो उस भूतपूर्व विषयका स्वरूप फिर मनमें उदित कर देता है। इस भूतपूर्व विषयकी पुनरुदित मनोवृत्तिको ही स्मृतिवृत्ति कहते हैं।

दूसरा शब्द है, Supramental (सुप्रामेण्टल)। इसका अर्थ है परा-प्रकृति। प्रकृति दो तरहकी होती है।

एक परा-प्रकृति है और दूसरी अपरा-प्रकृति। परा-प्रकृति-को ही ऊर्द्ध्व प्रकृति या प्रकृष्ट प्रकृति भी कहते हैं। श्री मद्भगवद्गीतामें इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

भूमिरापोऽनलोवायुः खंमनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धिमे पराम्।
जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

गीता अ० ७ श्लोक ४-५

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पांचो सूक्ष्म भूत नकि स्थूल) मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारोंमें मेरी प्रकृति बँटी हुई है। यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणीकी

(प्रकृति) है। हे अर्जुन! इससे भिन्न जगत्को धारण करने-वाली जो मेरी परा अर्थात् उच्च श्रेणीकी जीव-स्वरूपी दूसरी प्रकृति है, उसे तुम परा-प्रकृति जानो।

सारांश यह कि अपरा-प्रकृति तो आठ प्रकारकी है, किन्तु परा-प्रकृति एक ही है। अर्थात् सब जगह एक ही आत्मा परिव्याप्त है। जिस प्रकृतिके द्वारा भगवानकी जीव संज्ञा हुई है उसीका नाम परा प्रकृति है। क्षराक्षरा तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अच्छी तरह विचार करनेपर यह प्रकरण समझमें आ सकता है। Supranentae (सुप्रामेंटल) शब्द का शाब्दिक अर्थ यद्यपि परा-प्रकृति हमें नहीं मिला, पर प्रसंग देखनेसे ज्ञात होता है कि लेखकको इसका अर्थ परा-प्रकृति ही अभिप्रेत है।

साधना शब्दका प्रयोग इस पुस्तकमें अधिक हुआ है। अतः समाधिकी थोड़ी व्याख्या करके साधनापर प्रकाश डालना अधिक उपयुक्त होगा। पातञ्जलके मतमें सब प्रकार-के विजातीय प्रत्ययोंसे शून्य सजातीय वृत्तिका प्रवाह ही समाधि है। चित्तके अवस्था भेद से यह समाधि दो प्रकार-की है, एक सम्प्रज्ञात समाधि और दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि एकाग्रता पूर्वक रज-तमका नाश हो सत्वका उद्रेक स्वरूप चित्तका एकही विषयमें लग जाना तथा शुद्धि उत्पन्न होना सम्प्रज्ञात समाधि है। इस अवस्थामें ध्येय वस्तुका आकार मौजूद रहता है और असम्प्रज्ञातमें इस वृत्तिका निरोध

होता है। यह एकाग्र अवस्था चित्तकी अवस्थाका एक भेद है। चित्तकी अवस्था पाँच प्रकारकी है—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और विरुद्ध है। राग विद्वेषसे विषयमें अभिनिष्ट होना चित्तकी क्षिप्तावस्था, सदा विषयसक्त रहने पर भी कभी कभी ध्याननिष्ट हो जाना विक्षिप्तावस्थामें एवं एक ही विषयमें चित्तका स्थिर होना एकाग्रावस्था है। वेदान्तके मतसे ध्यान ध्याता, और ध्येयका एक हो जाना ही समाधि है, उस समय केवल ध्येय विषय मात्र ही रह जाता है। साधकलोग आत्म-संयम ध्यान द्वारा एकाग्र चित्त करके करते हैं।

योगके आठ अंग हैं।—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि। १ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रहको यम कहते हैं। २ शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वराधनको नियम कहते हैं।

३—पद्म स्वस्तिकादि स्थिर भावसे बैठनेका नाम आसन * है। ४—श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिको रोक कर उसको शास्त्रोक्त नियमानुसार बनाना प्राणायाम है। ५—इंद्रियोंका अपना अपना विषय त्याग करके चित्तको रूपका अनुकरण करना प्रत्याहार है। ६—केवल एक वस्तुके धारण

---

* आसन ४८००००० प्रकारके हैं। उनमें ८४ प्रचलित हैं। इन ८४ आसनों में भी मर्त्यलोक में ३२ तरह के आसन ही शुभदायक हैं। —घरेण्ड संहिता।

करनेका नाम धारण है। ७—श्रवण मनन द्वारा आचार्य्योंके दिये हुए उपदेश-गत संशयोंका दूर होना और चित्तका एकाग्र होना ही ध्यान है। ८—समाधिका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। अब साधनाका अर्थ स्पष्ट है।

पुस्तकके अन्तिम गीता-श्लोकपर भी कुछ लिखना आवश्यक है। विषय बड़ा ही गहन है। कर्म्ममें अकर्म्म और अकर्म्म में कर्म्म जो देखता है, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान है। किन्तु कर्ममें अकर्मका देखना वैसा ही सम्भावित नहीं है जैसा कि सफेद रंगमें काला। क्या कभी अन्धेरे का गुण उजाला करना हो सकता है? पर वास्तवमें गम्भीरता पूर्वक विचार करनेसे भगवानके वाक्यका रहस्य सत्य समझ पड़ता है। इसके भीतर बड़ा ही गूढ़ अर्थ छिपा हुआ है। वस्तुतः कर्म, अकर्म, विकर्म सब कल्पित हैं, अविद्याके प्रभाव-से इन सभों की लीला मची हुई है। तीनों गुणोंके सम्मिलन-से जो वस्तु मात्रकी उत्पत्ति है वे सभी वस्तुएँ ही स्वभाव-चंचल है। उन्हीं तीनों गुणोंके संयोगसे शरीरकी जो सब इन्द्रियां उत्पन्न हुई हैं वे भी कर्म जानेपर एक क्षण भी नहीं रहतीं। आत्मा अमर है। वह सबसे अलग है। यह त्रिगु-णात्मक कर्म ही अविद्याका है, और आत्मा तीनों गुणों से रहित है।

अविद्याका रूप पञ्चदशीके मतानुसार इस प्रकार है—चिदानन्दमय ब्रह्म प्रतिबिंब समन्विता। तमोरजः मन्दगुणा

प्रकृति द्विविधा च सा ॥ सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्येचते मते ।' अर्थात् चिदानन्दमय ब्रह्म समन्वित सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंको साम्यावस्था रूप प्रकृति ही सत्वके तारतम्यसे माया एवं अविद्या इन दो अवस्थाओंको प्राप्त है। जब तक सत्व गुण, रज और तमसे कलुषित नहीं होता तब तक उसको शुद्ध सत्त्व-प्रधान कहते हैं और जब सत्त्वगुण रज और तमद्वारा कलुषित होता है तब उसको मलिन सत्त्व-प्रधान कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अविद्या तो प्रकृतिको अवस्थाका एक भेद मात्र है।

वेदान्तसारके सिद्धान्तानुसार व्यष्टिभूत एक पृथक् अज्ञानको माया कहते हैं और समष्टिभूत अज्ञानको अविद्या कहते हैं। साधारणतः अविद्या कहनेसे अज्ञानका ही बोध होता है। 'अज्ञानन्तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चित् इति' अर्थात् अज्ञान है, सत् एवं असत्से भिन्न अनिर्वचनीय सत्त्व, रज और तमका ज्ञान-विरोधी भावरूप वस्तुके अज्ञानका नाम प्रचलित रहनेपर भी उसका अस्तित्व कहीं प्राप्त नहीं होता। इससे उसको असत् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि असत् पदार्थ तो कभी कारण रुपसे प्रकाशित ही नहीं हो सकता। इधर यह अविद्या या अज्ञान ही संसारका आदि कारण है। इसलिये उसको सत् मानना पड़ेगा। किन्तु अज्ञानको न तो सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही। यह अज्ञान सत् और असत्

होनेसे परे अनिर्वचनीय है। अज्ञान त्रिगुणात्मक एवं भाव रूप है (अर्थात् ज्ञानका अभाव अज्ञान नहीं है)। 'मैं अज्ञ हूँ' आदिका अनुभव सबको होता रहता है, अतएव अज्ञान अभाव रूप नहीं है। देखा जाता है कि व्यष्टिभूत मलिन-सत्व-प्रधान अज्ञान ही अविद्या है और व्यष्टिभूत शुद्ध-सत्त्व-प्रधान अज्ञान ही माया है। प्रकृति, माया, अविद्या और अज्ञान इन चारोंका अर्थ साधारणतः एक ही है।

मेरे आश्रय बिना जिसकी प्रतीति नहीं होती और मेरा स्फुरण होनेसे भी जिसका प्रतीति नहीं होती, इस प्रकारकी वस्तुको माया कहते हैं। यह माया, जीव-माया या अविद्या तथा गुण-माया या प्रकृति नामक दो भागोंमें विभक्त है। जीव-माया या अविद्या आभासके समान है। जैसे दर्पण प्रभृति ज्योतिर्बिम्ब पदार्थोंका ज्योतिर्मय प्रतिबिम्ब विशेष आभास इस ज्योतिर्बिम्ब पदार्थसे दूर प्रकाशित होनेपर भी उस ज्योतिर्बिम्बको छोड़ और कहीं दिखायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार जीव-माया भी है। गुण माया तम-स्वरूपा है अर्थात् उक्त ज्योतिर्बिम्ब पदार्थके तेजोमय आभास से आंखोंके चौंधिया जानेके कारण जो हरा पीला रंग दिखायी पड़ता है और वह अन्धकार जिस प्रकार अपने मूल प्रकाशके रहनेपर भी अपना आश्रय उक्त ज्योतिके अतिरिक्त प्रकाशित नहीं कर सकता उसी प्रकार गुणमाया भी है। विश्व-रचनाके प्रति जीव-माया तो निमित्त-कारण है एवं गुण-माया उपादान-कारण है।

अब अविद्या और मायाकी व्याख्या करनेसे यही सार निकलता है कि उक्त श्लोकमें श्रीकृष्णका अभिप्राय यही है कि 'मैं करता हूं' आदिके अभिमानका कारण अविद्या है। अविद्याके मुक्त हो जानेपर यह सब भाव बिलकुल ही मनमें नहीं रह जाता अतः जिसके दिल में यह भाव ही न रह जायगा उसके लिये कर्म, अकर्म, विकर्मका भेद ही कैसा ?

इस श्लोकका अर्थ अच्छी तरह विचारने से इस पुस्तकका स्पष्ट भाव हृदय-पटपर अंकित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इति

वनदेवी।

'भेद भस्म भूका कर देगी भाव भरेगी भवसेवी।
असहयोगके समरानलको धधकावेगी वनदेवी ॥'

हिन्दीके प्रायः सभी प्रतिष्ठित समाचारपत्रोंने इसकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की है। एक सम्मतिका सार परिचयके लिये नीचे दिया जाता है।

सरस्वती—"वनदेवी अच्छे टाइपमें अच्छे कागजपर छपी हुई ९९ पृष्ठोंकी एक छोटीसी पुस्तक है। इसमें एक रंगीन और तीन सादे चित्र भी हैं। इसमें पति पत्नी के आदर्श प्रेमकी झलक है; स्त्रियोंको अशिक्षित रखनेके कुफलका वर्णन है, दुर्भिक्ष के कारण प्रजाजनों, विशेषकर किसानोंपर आई हुई आपदाओंका चित्र है; जमींदारोंद्वारा किये गये उत्पीड़नकी चर्चा है; कृषि, शिल्प, साहित्य वैद्यक आदि की हीनतासे उत्पन्न हुई देशकी अधोगतिका विवेचन है और अन्त में है देशोद्धारक सन्यासियों और सन्यासिनियोंकी सृष्टि तथा देशके कोने कोनेतकमें कुटिया बनाकर वहींसे उनके द्वारा भारतोन्नतिके प्रेरक उपदेशोंकी घोषणाकी आवश्यकता। बीच बीचमें प्राकृतिक और कहीं कहीं अप्राकृतिक सृष्टि-सौंदर्य्यका भी वर्णन है। लेखकका उद्देश्य तो स्तुत्य है ही पर कहानी भी उनकी निजकी उपज है, यह और भी अच्छी बात है।"

पुस्तकके प्रकाशकके शब्दोंमें—सरस्वती (जनवरी १९२२)

"इसमें पराधीन देशोंके अधिवासियोंके मानवीय कर्त्तव्य एवं गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करनेवाली सुशिक्षिता आर्य ललनाओंके सुदृढ़ विचारपूर्ण आदर्श जीवनका वर्णन बड़ी ही प्रासादिक भाषामें किया गया है।" हिन्दी साहित्यमें ऐसे आदर्शके जितने ही अधिक दर्शन हों उतना ही अधिक उसका सौभाग्य समझना चाहिये। मूल्य ।।।)

पहलो ऐडिशन समाप्त है, पुस्तक दूसरी बार छप रही है।

दिव्य जीवन ।

यह ग्रन्थ संसार भरमें नाम पाये हुए डाक्टर स्विट मार्सं की जगत विख्यात पुस्तक "The Miracles of right thoughts" का हिन्दी अनुवाद है ।

पुस्तक क्या है, एक महात्माका दिव्य संदेशा है । जिसको पढ़नेसे हृदयमें एक आत्म-शक्तिका संचार होता है और आत्मामें स्थित अनन्त शक्तियोंका ज्ञान होता है । पुस्तक उत्साह वर्द्धक विचारों से परिपूर्ण है । यह दूसरी बार छपी मूल्य केवल ॥।) मात्र ।

सिनफिनर

या

स्वतन्त्रताके प्रेमी ।

इसमें आयर्लैण्डके राष्ट्रीय दलका सच्चा इतिहास है । इस दलके जिन कामोंसे सर्वशक्ति-सम्पन्न अंगरेज हिलने लग गये हैं, स्वतन्त्रताके युगमें प्रत्येक भारतीय को अवश्य जान लेना चाहिये । मूल्य ।) आना । प्रत्येक देशप्रेमीको इसका प्रचार करनेमें हाथ बँटाना चाहिये ।

प्रभा की सम्मति—"...इसके पढ़ने से हिन्दी पाठक सिनफ़िनरोंके सम्बन्धमें कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । पुस्तक सामयिक है, अतएव पाठनीय है ।" (जनवरी १९२२)

तरुण भारत

'यङ्ग इण्डिया' नामक विख्यात पुस्तक देश पूज्य लालाजी-ने कई वर्षों के कठोर परिश्रम और अनेकों ग्रन्थोंके अध्ययन कर अँग्रेज़ी शासनकी सच्ची पोल खोलने और भारतकी वास्तविक दशा दिखलानेके लिए अमेरिकामें लिखी थी। यह पुस्तक उसीका अनुवाद है। इस पुस्तकका प्रत्येक अक्षर बड़ी निर्भीकता के साथ लिखा गया है। पुस्तक क्या है देश की सच्ची रामायण है। ऐसी पुस्तकें बार बार नहीं छपतीं फौरन एक कापी अपने कब्जेमें कीजिए। मूल्य १।)

स्वतन्त्रताका अधिकार।

(ले० देशबन्धु चित्तरञ्जनदास। भूमिका ले०—म० गांधी)

दास महाशयने इसमें यह दिखाया है कि हमारा देश कैसे स्वतन्त्र होगा, मुट्ठीभर अंग्रेजोंकी अधीनतामें हम क्यों गरीब और गुलाम बने हुये हैं। मू०॥=) सचित्र

सन् १८५७ का गदर।

यह वही बलवा है जिससे बृटिश शासनकी जड़ हिल गई थी। किस प्रकार देश में पैशाचिक कांड किये गये थे, किस प्रकार प्रजा को धोखे में डाला गया था आदि बातोंका हृदय दहलानेवाला चित्र सप्रमाण खींचा गया है। मूल्य १॥) बड़ा ३॥) (पहलाभाग) दूसरा भाग ४॥)